पंचमकार तथा भावत्रय

लेखक

'कुलसङ्केश्वर' स्व० पण्डित देवी प्रसाद घिल्डियाल

एम० ए०, एल० एल० बी०

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

प्रयाग—६

साधनमाला चतुर्थ वर्ष—१-२ मणि

पंचमकार तथा भावत्रय

लेखक

'कुलसङ्केशेखर' स्व० पण्डित देवीप्रसाद घिल्डियाल,

एम० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

प्रयाग—६

द्वितीय संस्करण] भाद्रपद पूर्णिमा २०३१

विषय-क्रम

१—विषय-प्रवेश

२—पशु-भाव

३—वीर-भाव

४—दिव्य—भाव

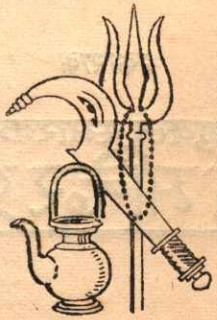

'धर्म' शब्द भारतीय भारती का स्वयं-पूर्ण शब्द है। उसका पर्यायवाची शब्द संसार भर की भाषाओं में नहीं है। अंग्रेजी के 'रिलिजन' अथवा फारसी के 'मजहब' शब्द हमारे धर्म के हजारवें हिस्से का भी अर्थ नहीं रखते। अस्तु।

धर्म की परिभाषाएँ बहुत सी हैं परन्तु प्रधानतया दो परिभाषाएँ महत्व-पूर्ण हैं और कदाचित् ये ही दो परिभाषाएँ ऐसी हैं, जो पूर्ण कही जा सकती हैं। एक है **'स्व-लक्षण-धारणाद्धर्मः'** दूसरी है **'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः'**। यदि विचारशील विद्वान् किञ्चिन्मात्र भी सोचने का कष्ट करेंगे, तो सिद्ध हो जायगा कि दोनों परिभाषाओं का एक ही तात्पर्य है। एक परिभाषा कहती है—किसी व्यक्ति, जाति, वस्तु, जीव का धर्म वह है, जिसके द्वारा वह अपने लक्षण (पहचान, परिचय) को धारण करता है अर्थात् पह-चाना जाता है। धर्म का अर्थ फिर आकृति मात्र समझने की भूल यहाँ पर हो सकती है। क्योंकि आकृति तो देवता, राक्षस, मनुष्य तथा कुछ पशुओं की एक ही सी है परन्तु उनके बीच का अन्तर उनके विशिष्ट गुणों के देखने से ही ज्ञात होता है। अतएव जिस कार्य-सरणि द्वारा चलने से आपका परिचय मिले, वही आपका धर्म हुआ। अपने-अपने धर्म पर चलने से ही **'अभ्युदय निःश्रेयस'** सिद्ध होना सम्भव है। माता ने अपनी जिस सन्तान को जो काम सौंपा है, वह उससे वही काम चाहती है। उसके न करने पर माँ अवश्य पीटेगी। माता ने स्वयं अपने श्री मुख से कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः पर-धर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर-धर्मो भयावहः॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

प्रस्तुत पुस्तक में यही दिखाने का प्रयास किया गया है कि कौल-धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसका अनुसरण करने से मनुष्य स्व-लक्षण धारण करता है और अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति करता है।

अन्य वादों में उपासना का आडम्बर और विधि-निषेध का ऐसा जाल फला हुआ है कि यदि आप भगवच्चिन्तन करना चाहते हैं, तो आपको संसार छोड़ना पड़ेगा। आप संसारी रहकर इष्ट-चिन्तन कर ही नहीं सकते। उनके विशिष्ट प्रकार के विधान (इसको छोड़ो, इसको रक्खे) साधक के हृदय की भेद-भावना को सदा जागृत रखते हैं और कौल-मार्ग में **'दिक्काल-नियमो नास्ति तिथ्यादि नियमो न च' 'सर्वदा पूजयेद्-देवीमस्नातः कृत-भोजनः'**– जब मन करे, जहाँ मन करे, वहीं मन्त्र का जप करो; नहाये बिना, भोजन इत्यादि करके जगदम्बा का पूजन करो। खटराग यदि है तो वह केवल मादक वस्तुओं के सेवन के विषय में है—

मत्स्य-मांस-सुरादीनां मादकानां निषेवणम्।
याग-कालं विनान्यत्र दूषणं कथितं प्रिये॥

याग-काल के अतिरिक्त मादक वस्तुओं का सेवन दोष बताया गया है और इस याग का खटराग स्पष्ट है कि कट्टर वाम-मार्गी का मादक वस्तुओं का सेवन तभी सम्भव है जब उसके पास पुष्कल धन तथा समय हो। वामी के लिये अग्राह्य कुछ भी नहीं, सभी कुछ ग्राह्य है। इसकी विवेचना इस पुस्तक में पाठकों को पूरी प्रकार मिलेगी।

जो साधारण मद्यप तथा आचार-भ्रष्ट लोग हैं और पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध हैं, उनको कदाचित् यह पुस्तक मद्य-पानादिक की वकालत जँचे (यद्यपि मैंने इस विचार से इस पुस्तक को नहीं लिखा)। उनसे मेरा अनुरोध है कि इस पुस्तक में बताये हुये विधान के अनुसार इनका प्रयोग करें।

टिहरी —देवीप्रसाद घिल्डियाल

विषम-प्रवेश

यः शान्तः परमावयः पर-शिवः ककाल कालान्तको ।
ध्यानातीतमनादि-नित्य-निचयः सङ्कल्प-सङ्कोचकः ॥
आभासान्तर-हासकः सम-रसः सर्वात्मनां बोधकः ।
सोयं सर्व-मयो ददातु जगतां विद्यादि-सिध्यष्टकम् ॥

शक्ति-साधना तीन प्रकार के आचारों से की जाती है—दक्षिणाचार, वामाचार तथा कुलाचार । रुद्रयामल में इनके लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं । यथा—

(१) दक्षिणाचार में प्रातःस्नान, दिन में पूजन, हविष्यान्न-भोजन, पूजन में ऊर्णासन तथा रुद्राक्ष-माला के प्रयोग, श्रौत-स्मार्त धर्म में दृढ़ रहकर साधना करने का विधान है । पञ्चमकार से पूजन करना सर्वथा निषिद्ध माना गया है और पहले तो ब्रह्मचर्य से साधक को रहना चाहिये, यदि ब्रह्मचर्य से न रह सके तो स्व-स्त्री में रत रहे ।❀

(२) वामाचार में स्नान-शौच का कोई बन्धन नहीं है । साधक सर्वदा सर्व-काल में जप-ध्यानादिक कर सकता है, रात्रि-पूजन विशेषतया प्रशस्त है । इस आचार में साधक को वर्णाश्रम-धर्म के बन्धन में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है । वामाचारी को सर्व-वर्णों में समानत्व समझना चाहिये । मद्य-मांसादिक से देव-पूजन करना विहित है । साधन में स्व-कान्ता, पर-कान्ता के बीच

❀ प्रभाते स्नान-सन्ध्यादि मध्याह्ने जप ईश्वरि ।
और्णमासनमात्मार्थं भक्ष्यं पायस-शर्करम् ॥
माला रुद्राक्ष-सम्भूता पात्रं पाषाण-सम्भवम् ।
भोगः स्वकीय-कान्तोभिर्दक्षिणाचार इत्ययम् ॥
द्रव्येण मधुना देवि सिद्धि-हानि-करो मतः ।

कोई भेद नहीं माना जाता। ❀

(३) कुलाचार राजयोग है और इसके पञ्च-मकार अन्तर्याग से सम्बन्धित हैं, जिसका आगे विवेचन किया जायगा। ❀

इन्हीं आचार-त्रय को भाव-त्रय कहते हैं। यथा क्रमानुसार— (१) पशु-भाव, (२) वीरभाव, (३) दिव्य-भाव। कालीविलास तन्त्र का कथन है—"हे देवी ! भाव-त्रय को सुनो। ये क्रमानुसार दिव्य, वीर तथा पशु हैं। दिव्य देव-वत् है, वीर-भाव में औद्धत्य है और पशु-भाव सदा शुद्ध तथा शुचि-वत् है।"● यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि कालीविलास तन्त्र पशु-भाव को सर्वोत्तम मानता है और वीर-भाव को सबसे निकृष्ट। उसमें "उद्धत-मानसः" प्रयोग से यह स्पष्ट है। अन्य तन्त्र पशु-भाव को निकृष्ट मानते हैं। रुद्रयामल का वचन है—पहले पशु-भाव करके पश्चात् अवश्यमेव वीर-भाव को, जो महाभाव है तथा सब भावों में उत्तमोत्तम है, करे और उसके पश्चात् समस्त श्रेयों के आश्रय दिव्य-भाव को करे, जो महा-फलद है।" भावचूड़ामणि ने तो पशु-भाव को सर्व-निन्दित कहा है—"श्री देवी अपने मुखारविन्द से कहती है कि हे देव ! भाव तीन प्रकार के हैं—दिव्य, वीर तथा पशु। आद्य-

---

❀ वामाचारं प्रवक्ष्यामि श्रीदुर्गा-साधनं परम्।
यं विधाय कलौ शीघ्रं मांत्रिकः सिद्धिभाग्भवेत्॥
माला नृदन्त-सम्भूता पात्रं तु नर-मुण्डकम्।
आसनं सिद्ध-चर्मादि कङ्कणम् स्त्री-कचोद्भवम्॥
द्रव्यमासव-तत्त्वाद्यं भक्ष्यं मांसादिकं प्रिये।
चर्वणं बाल-मत्स्यादि-मुद्रा वीणा-रवः कथा॥
मैथुनं पर-कान्ताभिः सर्व-वर्ण-समानता।
वामाचार इति प्रोक्तः सर्व-सिद्धि-प्रदः शिवे॥

❀ कुलाचारं प्रवक्ष्यामि सेयं योगिभिरुत्तमैः।
कुल-स्त्रियं (षट्-चक्रों की अधिष्ठात्री देवियाँ)
कुल-गुरुं (आज्ञा-चक्र में हंस-पीठस्थ गुरु)
कुल-देवीं (कुल-कुण्डलिनी) महेश्वरि॥
नित्यं यत्पूजयेद्विश्वं स कुलाचार उच्यते॥

—रुद्रयामले।

● शृणु भाव-त्रयं देवि दिव्य-वीर-पशु-क्रमात्।
दिव्यश्च देववत्प्रायो वीरश्चोद्धत-मानसः॥
पशु-भावः सदा देवि शुद्धश्च शुचि-वत् सदा।

(काली विलास ६-४।१०)

भाव अर्थात् दिव्य-भाव, हे महादेव ! सर्व-समृद्धि देनेवाला है, दूसरा 'वीर-भाव' मध्यम और तीसरा 'पशु-भाव' सर्व-निन्दित है।" ❀

अस्तु, इन सब मतभेदों को अलग रखते हुए भी सर्व-तन्त्रों को देखने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि इन तीनों में से एक-न-एक भाव से अवश्य-मेव पूजा या साधना करनी ही पड़ेगी, चाहे आप किसी भी देवता की पूजा करें। अन्य तन्त्र शाक्त-तन्त्र के बराबर विज्ञान-मय न होने के कारण इन भाव-त्रय को न समझ सके। अतएव उनमें भाव-त्रय की शाक्त-तन्त्र जैसी वैज्ञानिक व्याख्या न होना स्वाभाविक है।

पञ्च-मकार के नाम प्रायः सभी जानते हैं। इनके नाम हैं—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन। ❀ वास्तव में देखा जाय तो ये पाँच न होकर यथार्थ में चार ही हैं। मांस और मीन को आमिष कोटि ही में रखना व्यावहारिक-सा हो गया है। मद्य के अन्दर सभी मादक वस्तुयें, मांस-मीन के अन्दर जल, स्थल तथा नभ-चारी सर्व प्रकार के जीवों का भोज्य आमिष, मुद्रा के अन्दर सर्व प्रकार के चर्व्वणीय अन्न (विशेषतया तले हुए) और मैथुन में स्त्री-पुरुष का सर्व प्रकार का रति-सम्भोग समझना चाहिये। शाक्त-तन्त्रानुसार जिस किसी भी भाव से आप पूजन-साधन करें, पञ्च-मकार प्रत्येक भाव में पूजा की सामग्री है। केवल भाव-विशेष में ये ही "पञ्च-मकार" अर्थ तथा भाव-विशेष रखते हैं। पञ्च-मकार को तन्त्रशास्त्र में पञ्च-तत्व भी कहा गया है।

❀ भावस्तु त्रिविधो देव दिव्य-वीर-पशु-क्रमात्।
आद्य-भावो महादेव श्रेयान् सर्व-समृद्धिदः॥
द्वितीयो मध्यमश्चैव तृतीयस्सर्वनिन्दितः।
(भावचूड़ामणि)

❀ मद्यं मांसं तथा मीनं मुद्रा मैथुनमेव च।
मकार-पंचकं सेव्यं शिव-शक्तिसमागमे॥ (मेरुतन्त्रे)

पशु-भाव

तन्त्रशास्त्र ने साधना की सबसे पहली सीढ़ी पशु-भाव को कहा है। कहना न होगा, पशु-भाव ही आदि-भाव है। मनुष्य पशुओं में सर्वश्रेष्ठ है। जब तक निरन्तर साधना तथा अभ्यास से उसे ज्ञान न होगा, तब तक उसमें पशुत्व बना रहेगा। मनुष्य सोचने-विचारनेवाला पशु है। इसलिये उसको पाश्चात्य आचार्यों ने **'राशनल ऐनिमल'** अर्थात् तर्क-वितर्क करके अपना मत स्थिर करनेवाला पशु कहा है। जिसकी बुद्धि जितनी होगी, उसका ज्ञान उतना ही होगा। एक पाषाण-मूर्त्ति-विशेष को ही देवता समझनेवाला एकदम ब्रह्म को कैसे समझ सकता है? जिस व्यक्ति के हृदय में भेद-बुद्धि है; अपनी रुचि के अनुसार जो किसी वस्तु को भला और किसी को बुरा समझता है; उसमें पशुत्व है और उसके लिये पशु-भाव से ही साधन-पूजन करना श्रेयस्कर हो सकता है, वीर तथा दिव्य-भाव से नहीं। जो व्यक्ति कभी घोड़े पर भी न चढ़ा हो, उसको अरबी घोड़े पर चढ़ाना यदि उसके लिये प्राण-घातक न हो, तो हाथ-पाँव तोड़नेवाला अवश्य ही होगा।

साधारणतया मनुष्य-जीवन की भी प्रधान तीन ही अवस्थाएँ देखने में आती हैं—बाल्य, यौवन तथा जरा। बाल्यावस्था में मनुष्य प्रायः सभी बातों से अनभिज्ञ रहता है। उसको उस समय सभी सांसारिक कार्यों की अ, आ, इ, ई, सीखनी पड़ती है। बाल्यावस्था पूर्ण होने पर उसका शारीरिक विकाश पूर्णता को प्राप्त होता है और वह युवावस्था के साथ-साथ कर्मक्षेत्र में प्रवेश करता है। इसी बात को विचार में रखते हुए मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक नींव को दृढ़ रखने के लिये हमारे धर्मशास्त्रों ने बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करने का आदेश किया है। महाकवि कालीदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में इन अवस्था-त्रय तथा तत्सम्बन्धी कर्तव्य-त्रय का रघुवंशियों की जीवन-चर्या के विषय में बड़ा उत्तम दिग्दर्शन कराया है। रघुवंशी शैशव में विद्याभ्यास, यौवन में विषय-भोग तथा वार्धक्य में मुनि-वृत्ति से रहकर योग से शरीर-त्याग करते थे। ❀

यही चरम प्राकृतिक नियम है। यही नियम साधना के लिये भी अनुभव से प्रशस्त है। इसी नियम को ध्यान में रखकर महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग-

---

❀ शैशवेभ्यस्तु विद्यानां यौवने विषयैषिणां।
वार्धक्ये मुनि-वृत्यानां योगेनान्ते तनु-त्यजाम्॥ रघु० १।७

योग का उपदेश दिया है। यम-नियमादिक से आत्म-शुद्धि किये बिना एकदम असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। यही नवधा भक्ति का भी सिद्धांत है। स्मरण, कीर्तन, पूजन का अभ्यास किये बिना साधक में आत्म-समर्पण का महा-भाव नहीं आ सकता। प्रत्येक साधना का पशु-भाव से आरम्भ किया जाना आवश्यक है। जब तक आप में पशु-भाव है, आप पशु-भावातिरिक्त भाव से पूजन ही नहीं कर सकते। अभ्यास करते रहने से एक दिन आपका पशु-भाव स्वयं ही छूट जायगा।

परन्तु यह जाना कैसे जाय कि अभी साधक का पशुत्व नष्ट नहीं हुआ? शास्त्र ने पशुत्व के लक्षण बताये हैं। जिस दिन साधक देखे कि उसमें उक्त लक्षणों में से एक भी लक्षण नहीं रहा, उसी दिन उसका पशुत्व नष्ट हुआ समझिये। ध्यान रहे, पशुत्व जीव का गुण नहीं है। जीव तो स्वयं परमात्मा ही है। जैसे सागर और उसकी लहर है, वैसे ही शिव और जीव है। जीव पशुत्व के पाश से आबद्ध है। इसी पशु-पाश को साधना से काटना है। परन्तु जब तक वह पशु-पाश से बँधा हुआ है, उसे पशु ही की तरह आचरण करना पड़ेगा। जेल के कैदी को जेल के नियमों के अनुसार ही चलने में श्रेय है। इस पाश को शास्त्र ने आठ प्रकार बताया है। अतः यह एक पाश नहीं बल्कि अष्ट-पाश कहे जायेंगे। यथा—(१) घृणा, (२) शङ्का, (३) भय, (४) लज्जा, (५) जुगुप्सा, (६) कुल, (७) शील और (८) जाति ❀ अब विचारणीय है कि ये अष्ट-पाश किस प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के बाधक हैं और क्यों त्याज्य हैं।

१—'घृणा'

घृणा क्या है? साधक की पसन्द और नापसन्द को बतानेवाली प्रवृत्ति है। एक वस्तु किसी व्यक्ति को नापसन्द है। वह उस वस्तु से घृणा करता है परन्तु दूसरे व्यक्ति को वह वस्तु पसन्द है, वह उससे घृणा नहीं करता है। व्यक्ति-विशेष के शरीर तथा इन्द्रियों को वस्तु-विशेष रुचिकर न होने से उस व्यक्ति का शरीर-विशेष उसको पसन्द नहीं करता, इस कारण उस शरीर-विशेष के मन में उस वस्तु के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता है और होते-होते यह घृणा का भाव इतना प्रबल हो उठता है कि उस वस्तु को प्रिय मानने-

---

❀ घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाश-बद्धः स्मृतो जीवः पाश-मुक्तः सदाशिवः॥
(कुलार्णव)

वाले से भी उस व्यक्ति को घृणा हो जाती है। हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की कथा को हिन्दू मात्र जानते हैं। हिरण्यकशिपु को हरि-नाम से घृणा हो गई और होते-होते इस घृणा के पाश से वह इतना जकड़ गया कि अपने एकमात्र पुत्र प्रह्लाद तक के प्राणों का ग्राहक हो गया। घृणा कितना प्रबल पाश है! उससे जकड़ जाने पर मनुष्य अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु का भी वैरी हो जाता है। जिस दिन मनुष्य के हृदय से घृणा का भाव दूर हो जायगा, उसके समीप संसार की सब पार्थिव वस्तुएँ पञ्च-भूतों के विकार-मात्र दीखेंगे; शब्दों में केवल सांसारिक व्यवहार मात्र को समझने के अतिरिक्त अन्य कोई चमत्कार न रह जायेगा क्योंकि उसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो जायेगा कि ये शब्द केवल पञ्चाशत वर्ण-मातृकाओं के ही हेर-फेर से बने हैं; जैसे 'राम' और 'मरा' शब्द हैं। 'म' और 'रा' इन दोनों वर्णों को उलट-पलट कर पढ़ने से शब्दार्थ में कितना अन्तर हो गया! यह भी हिन्दू-मात्र जानते हैं कि 'मरा' शब्द का जप करने से वाल्मीकि ऋषि को श्रीराम की ऐसी प्राप्ति हुई, जैसी किसी को भी न हुई होगी। तुलसीदास जी ने इसी को इङ्गित करते हुए लिखा है—

'उलटा नाम जपत जग जाना,
बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।'

यह घृणा हमारे देहाभिमान को उत्तेजना देती है। हमारी इस प्रवृत्ति पर जोर देती है कि जिस वस्तु को हम बुरा मानें, उसे सारी दुनिया छोड़ दे। इस घृणा का परित्याग करने से हमारा देहाभिमान दूर होगा और हमारा पशुत्व-नाश होगा। कारण, देहाभिमान का पोषण पशुत्व का प्रधान लक्षण है। इसीलिये शास्त्र कहता है कि—"जब तक देहाभिमान है, जब तक ममता है, जब तक गुरु-कृपा न हुई (अर्थात् जब तक गुरु-कृपा से यह देहाभिमान नष्ट नहीं हुआ), तब तक तत्व-कथा कैसे सम्भव है?"

२—'शङ्का'

दूसरा पाश शङ्का है। साधक के हृदय में अन्य के प्रति सन्देह की भावना, दीर्घ-सूत्रता इत्यादि भावनायें सब शङ्का के अन्तर्गत आती हैं। सांसारिक माया-मोह में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी भौतिक उन्नति के लिये नाना प्रकार के छल-प्रपञ्च करता है, झूठ बोलता है, कपट-व्यवहार करता है। इसीलिये वह दूसरे को भी वैसा ही समझने के कारण उससे शङ्कित रहता है। शकुन-शास्त्र, फलित-ज्योतिष इत्यादि विद्यायें मानव की शङ्का के मूर्त-रूप हैं। उसकी लोलुप प्रवृत्ति उसको सर्वदा शङ्कित बनाये रखती है। वह सोचता है—अमुक मुहूर्त में धन कमाने अथवा मुकदमा करने जाऊँगा तो मुझे लाभ होगा। उसको अपने काम की चिन्ता नहीं रहती, बल्कि लाभ की चिन्ता रहती है। यदि

वह अपने कार्यों को कर्तव्य समझ कर करे और हानि-लाभ की चिन्ता के फेर में न पड़े, तो उसे शङ्कित होने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

३—'भय'

तीसरा पाश भय है। साधक को अपने पार्थिव शरीर तथा इससे सम्पृक्त पार्थिव वस्तुओं से बड़ा प्रेम है। इसलिये उसको इनके नष्ट होने का सर्वदा भय बना रहता है। आत्मा के नाश का उसको कोई भय नहीं है; वह आत्मा को जानता ही नहीं। वह भौतिकता के दलदल में डूबा हुआ है। उसको आत्मा के विषय में जानने की फुरसत ही नहीं। परन्तु इतना वह जानता है कि ये पार्थिव पदार्थ सब नश्वर हैं और न जाने कब नष्ट हो जायँ। उसने लोगों को मरते देखा है, सेठों का दिवाला पिटते देखा है, राज्यों को नष्ट होते हुए देखा है। इसी कारण वह भयभीत रहता है कि कहीं मेरी भी ये पार्थिव वस्तुयें नष्ट न हो जायँ। अपने पशुत्व के कारण वह यह नहीं समझता कि जब इन वस्तुओं को एक दिन नष्ट होना ही है, तो मैं क्यों इन पर ममत्व रक्खूँ। इसी कारण भय पशुपाश है।

४—'लज्जा'

चौथा पाश लज्जा है। इसका बहुत सुन्दर अर्थ पाश्चात्य दार्शनिकों ने **'इन्फीरियॉरिटी कॉम्प्लेक्स'** (लघुता का बोध) किया है। लज्जा वह भावना है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य अपने को दूसरे से छोटा समझता है। इस भावना के मारे मनुष्य इसी विचार से दबा रहता है कि कहीं मैं ऐसा काम न कर बैठूँ या ऐसा काम करते न देखा जाऊँ, जिससे लोग मुझे छोटा समझें। एक सज्जन मुझे ऐसे मिले, जो स्वयं ग्रेजुयेट थे परन्तु उनके पिता अंगरेजी नहीं जानते थे, अत्यन्त साधारण थे। फटी-मैली मिरजई गाढ़े की पहनते थे और लँगोटी लगाते थे। एक दिन उन ग्रेजुयेट साहब के एक डिप्टी कलेक्टर मित्र की उपस्थिति में उनके पिता मिरजई लँगोटी में आ गये और बड़ी बेतकल्लुफी से एक खाली कुर्सी पर बैठ गये। डिप्टी साहब और ग्रेजुएट साहब ने नाक-भौं सिकोड़ी। डिप्टी साहब ने अंगरेजी में उनसे पूछा कि 'यह कौन हैं?' ग्रेजुएट साहब ने उत्तर दिया कि 'मेरी जान-पहचान का आदमी है' और उस पर यह भी और जड़ दिया कि 'ये देहाती बड़े बदतमीज होते हैं।' ग्रेजुएट साहब की यह लज्जा ही तो थी, जिसने बाप को बाप न कहने दिया। उनके हृदय में भावना ही यह थी कि डिप्टी साहब सोचेंगे कि यह एक गँवार का पुत्र है और इससे उनको लज्जित होना पड़ेगा। मनुष्य के हृदय में मानापमान की भावना लज्जा से ही जागृत रहती है। मनुष्य इस मानाप-

मान के फेर में पड़कर यह नहीं समझता कि यह मानापमान केवल उसके पार्थिव शरीर का ही तो है। आत्मा तो मानापमान से परे है। नंगे रहने पर शरम क्यों ? आप अपना पार्थिव शरीर दूसरे को नहीं दिखाना चाहते, बस, इसी कारण आपको नंगे रहने में लज्जा लगती है। लज्जा आपके देहाभिमान की पोषक होने से पशु-पाश है।

५—'जुगुप्सा'

पाँचवाँ पाश जुगुप्सा है। पर-निन्दा को जुगुप्सा कहते हैं। मनुष्य दूसरे के दोष देखता है, फिर लोगों से उसके दोष कहता है। पर-दोष-दर्शन और पर-निन्दा में मनुष्य अपने दोष का मनन नहीं कर पाता, जिससे उसके अपने निज के दोष बढ़ते चले जाते हैं। जुगुप्सा के कारण उसकी प्रवृत्ति झूठ बोलने की हो जाती है। स्पष्ट-वादिता का उसमें नाश हो जाता है और उसमें कापुरुषत्व आ जाता है, जो आध्यात्मिक उन्नति लिए अत्यन्त हानिकारक है।

६—'कुल'

छठवाँ पाश कुल है। मनुष्य का यह विचार कि वह अमुक कुल या वंश का है, सर्वदा उसके हृदय में उच्चता या क्षुद्रता का भाव पैदा करता रहता है। साधारणतया लोगों में परिचय देने के लिये कुल का बखान किया जाता है। सभी लोगों में यह आकांक्षा पाई जाती है कि वे अपने को किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के कुल का सिद्ध कर सकें। जो व्यक्ति अपने को किसी मान्य तथा प्रख्यात कुल का सिद्ध कर सकता है, वह समाज में आदर पाता है और जो ऐसा नहीं कर सकता, वह निरादृत होता है। यथार्थ में देखा जाय तो कुलीनत्व-अकुलीनत्व का विचार अत्यन्त ही मूर्खता-पूर्ण है। सभी धर्म इस बात को निर्विवाद मानते हैं कि आदि में परमेश्वर ने एक पुरुष और एक स्त्री बनाई और उनकी सन्तान यह सारी मानव सृष्टि है। मुसलमान, ईसाई और यहूदियों के अनुसार संसार की सारी मनुष्य जाति आदम की सन्तान है और हिन्दुओं के अनुसार कश्यप की। अब विचारणीय है कि जब तमाम जाति एक ही व्यक्ति से उत्पन्न हुई, चाहे उसका नाम आदम कहिये चाहे कश्यप, तो फिर कुलीनत्व-अकुलीनत्व का झगड़ा कैसा ? मनुष्य मात्र कश्यप (या आदम) कुल के ही तो हुये। इसलिए यह कुल का पाश केवल हमारे देहाभिमान का ही पोषक होने से पशु-पाश है। स्वयं जीव, जिसकी यह देह है, कुलीनत्व-अकुलीनत्व से परे है।

७—'शील'

सातवाँ पाश शील अर्थात् शिष्टाचार है। सेवा, प्रणाम, उठने, बैठने,

अन्य लोगों के साथ व्यवहार आदि के नियम सब शील के अन्तर्गत हैं। यह आपकी आत्मिक स्वतन्त्रता का तो कहना ही क्या, शारीरिक स्वतन्त्रता का भी नाश करनेवाला है। कल्पना कीजिये, आपकी इच्छा शयन करने की है और आप सोने की तैयारी में हैं, परन्तु उसी समय आपके समाज के कोई प्रतिष्ठित सज्जन आपके पास आये और गप-शप करने लगे। आपको नींद आ रही है। हृदय से आप चाहते हैं कि ये महाशय चले जाते, तो मैं सोता, परन्तु वे दो घन्टे आपके पास डटे रहे और आपकी नींद खराब कर दी। यह आपका शील ही का बन्धन तो था, जिसने आपके ऊपर इतना अत्याचार करवाया। यदि आप शील के बन्धन में न बँधे होते, तो आप उनसे कह देते कि 'महाशय, आप इस समय पधारिये, मैं सोने जा रहा हूँ'। यही शील का बन्धन साधक को खाने, पहनने, चलने-फिरने, बोलने इत्यादि सभी कार्यों में अपनी रुचि से विपरीत चलने को बाध्य करता है और उसके हृदय में यही चिन्ता बनी रहती है कि मेरा कोई कार्य शिष्टाचार के विरुद्ध न हो, जिसमें लोग मेरी निन्दा करें। शील का बन्धन काट देने से साधक विचार तथा कर्म में स्वतन्त्र हो जाता है और उसे यह चिन्ता नहीं सताती कि कोई उसकी निन्दा कर रहा है या स्तुति।

८—"जाति"

आठवाँ पाश जाति है। मनुष्य अपने जात्यभिमान के फेर में पड़कर अन्य मनुष्यों को हीन अथवा उच्च समझता है और इसी कारण समाज में व्यर्थ के झगड़े फैलाता है। इस जाति-भेद के कारण ही समाज में नाना प्रकार की फिरकेबन्दियाँ फैल गई हैं, जिनके कारण कई बार लोगों के बीच सिर-फुड़ौव्वल तक हो बैठती है। जाति-भेद साधक की सम-दर्शिता का नाश करनेवाला है और उसके अभिमान का पोषक होने के कारण पशु-पाश है। हिन्दू धर्मशास्त्र इस जाति-कृत भेद-भाव को अत्यन्त गर्हित बतलाते हैं। भविष्यपुराण का कथन है—"न तो ब्राह्मण चन्द्रमा की किरणों के समान शुक्लवर्ण हैं, न क्षत्रिय ढाक के फूल के समान लाल, न वैश्य हड़ताल के समान और न शूद्र कोयले के समान काले हैं। चलने-फिरने से, शरीर की गठन से, रङ्ग केश तथा शोणितादि धातुओं से सब एक ही प्रकार के दीखते हैं, तो चार भेद कैसे माने जायँ? गर्भ-वास, आकृति, रङ्ग-रूप, काम-काज, इन्द्रियों के व्यापार, जीवन-मरण, रोग, शोक, पुरुषार्थ, बल तथा औषधि-प्रयोग—इन सब बातों में उक्त चार जातियों में जाति-कृत भेद तो कुछ भी देखने में नहीं आता। सभी तो उसी एक परम पिता परमेश्वर की सन्तान हैं। यह बात शास्त्रों के प्रमाणों, दृष्टान्तों तथा तर्क-वितर्क से सिद्ध है। फिर जाति-कृत भेद कैसा?

जब चारों वर्ण एक ही पिता की सन्तति हैं, तो फिर यह सिद्ध है कि एक पिता के पुत्रों की एक ही जाति हो सकती है, भिन्न-भिन्न जातियाँ नहीं।"❀

ये अष्ट-पाश पशु-पाश कहलाते हैं। जीव इन पाशों से आबद्ध होने के कारण पार्थिव भोगों को चरम-सुख समझता है और संसार के आवर्त में घूमता रहता है। इस जीव को शिवत्व प्राप्त कराने के हेतु साधना करके इन पाशों को काटना होता है। पाश-मुक्त होने से जीव स्वयं ईश्वर हो जाता है।

❀ ❀ ❀ ❀

साधक की जैसी मनोवृत्ति रहती है, उसी प्रकार की साधना करने से उसका श्रेय सम्भव है। जिस पर उक्त अष्ट-पाशों का प्रभाव है, उसके लिये सर्वदा सर्व काल और सर्वावस्था में साधन कर सकना असम्भव है। उसका मन सांसारिक पार्थिव प्रवृत्तियों के वश में होने से अध्यात्म की ओर नहीं जा सकता। अतएव जब तक चित्त निर्मल नहीं हुआ, मनोवृत्तियों पर विजय प्राप्त न हो सकी, तब तक साधना पशु-भाव से करनी होगी। नित्य-स्नान, सन्ध्या-वन्दन, आचार-शुद्धि, आहार-शुद्धि—सब कुछ करना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यम-नियमादिक अष्टांग योग से पूर्ण-रीत्या मन तथा काया की शुद्धि करनी होगी। ब्रह्मचर्य का पालन नितान्त आवश्यक है। अथवा गृहस्थ के लिये अपनी स्त्री ही में रत रहना ब्रह्मचर्य-पालन ही के समान समझा गया है। पञ्च-मकार से पूजन करना एकदम निषिद्ध है। यदि कहीं आवश्यकता ही पड़ जाय तो उनके प्रतिनिधि प्रयुक्त किये जाते हैं, जैसे मांस के बदले लशुन-पलांडु प्रभृति, मद्य के बदले छाछ में गुड़ मिलाकर उसका प्रयोग इत्यादि। देखिये कुलार्णव पञ्चमोल्लास। मेरुतन्त्र, महाकाल-संहिता आदि तन्त्र भी इस विषय में देखने योग्य हैं।

❀ न ब्राह्मणाश्चन्द्र-मरीचि-शुभ्रा न क्षत्रिया किंशुक-पुष्प-वर्णा।
न चेह वैश्या हरिताल-तुल्याः शूद्रा न चाङ्गार-समान-वर्णा॥
पाद-प्रचारैस्तनु-वर्ण-केशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन।
त्वङ्-मांस-केशास्थि-रसैः समानाः चतुः-प्रभेदा हि कथं भवन्ति॥
वर्ण-प्रमाणाकृति-गर्भ-वास-वाग्बुद्धि-कर्मेन्द्रिय-जीवितेषु।
बल-त्रि-वर्गामय-भेषजेषु न विद्यते जाति-कृतो विशेषः॥
स एक एवात्र पिता प्रजानां कथं पुनर्जाति-कृतः प्रभेदः।
प्रमाण-दृष्टान्त-नय-प्रवादैः परीक्ष्यमाणो विघटत्वमेति॥
चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेकः।
एवं प्रजानां हि पितैक एव पित्रैक भावान्न च जाति-भेदः॥
(भविष्यपुराण अ० ४२—श्लो० ४१ से ४५ तक।)

पशु के लिये मद्य-मांसादिक अपने प्रकृत रूप में एकदम वर्ज्य हैं। कुलार्णव तन्त्र वाममार्ग के प्रधान ग्रन्थों में है, परन्तु वह पुकार-पुकार कर कहता है कि पशु-भाव की साधना में इनको कभी ग्रहण न करे, केवल कौलिक ही इनका अधिकारी है। यथा —पशु के लिये मद्य-मांस-सेवन परम फल देनेवाला है। सुरा अन्नों का मल पाप्मा कहलाता है। अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य सुरा न पिये। यदि मद्य पर दृष्टि पड़ गई, तो सूर्यावलोकन से उसका पाप छूटता है। यदि उसकी गन्ध नाक के अन्दर घुस जाय, तो तीन प्राणायाम करने पर शुद्धि होती है। यदि मद्य छू जाय, तो उपवास करे और तीन रात्रि तक जल में खड़ा रहे। यदि सुरा-पान कर ले, तो उबलती हुई शराब गरम-गरम गले में डाले, उससे मुँह जल जाय, तब वह शुद्ध हो सकता है।" ❀

पश्वाचारी को मद्य, मांस, मैथुनादि से विरत करने के लिये यहाँ तक दलीलें दी गई हैं कि—'यदि मद्य-पान से सिद्धि मिले, तो सब मद्यप सिद्ध हो जाने चाहिये थे। मांस खाने से यदि पुण्य होता है, तो सब मांसाहारी जीव पुण्यात्मा हैं और यदि स्त्री-सम्भोग मात्र से मोक्ष मिलता है, तो संसार के जन्तु मात्र को मुक्त समझना चाहिये, क्योंकि सभी स्त्री-सम्भोग करते हैं।" ❀

पश्वाचार विशुद्ध वैष्णवाचार है और वर्णाश्रम-धर्म के विधि-निषेधात्मक बन्धनों से जकड़ा हुआ है। भावचूडामणि का कथन है कि पश्वाचारी–'त्रिसंध्य

❀ अनाघ्रेयमनालोक्यमस्पृश्यञ्चाप्यपेयकम् ।
मद्यं मांसं पशूनां तु कौलिकानां महाफलम् ॥१२४॥
सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा तु मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यो वैश्यश्च न सुरां पिवेत् ॥१२६॥
सुरा-दर्शन-मात्रेण कुर्यात् सूर्यावलोकनम् ।
तत्समाघ्राण-मात्रेण प्राणायाम-त्रयं चरेत् ॥१२७॥
आजानुभ्यां भवेन्मग्नो जले चोपवसेदहः।
ऊर्ध्वं नाभेस्त्रिरात्रं तु मद्यस्य स्पर्शने विधिः ॥१२८॥
सुरा-पाने काम-कृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत् ।
मुखे तया विनिर्दग्धे ततः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥१२९॥
कुलार्णव २

❀ मद्य-पानेन मनुजो यदि सिद्धि लभेत वै।
मद्य-पान-रताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामराः ॥११७॥
मांस-भक्षण-मात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत् ।
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्य-भाजो भवन्ति हि ॥११८॥
शक्ति-सम्भोग-मात्रेण यदि मोक्षो भवेत वै।
सर्वेऽपि जन्तवो लोके मुक्ताः स्यु स्त्री-निषेवणात् ॥११९॥ कुला० २

देव-पूजा त्रिसंध्य जप करे। रात्रि में भूल कर भी मन्त्र न जपे, माला का स्पर्श न करे। भोजन करने के बाद मन्त्रोच्चारण न करे। सर्व कर्मों में मौन रहे। मैथुन, तत्सम्बन्धी कथा में बोलना, सुनना या मैथुन-सम्बन्धी परामर्श, इनको त्याग देवे।'❀

इस प्रकार साधना करते-करते पशुत्व के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। साधक का हृदय आर्द्र होने लगता है और कुलार्णव में कथित लक्षणों से वह पहचाना जा सकता है। वे लक्षण ये हैं—

प्रसन्न, सन्तुष्ट, निर्द्वन्द्व, मात्सर्य-रहित, कुल-सम्बन्धी स्वाध्याय में लगे हुये, शान्त और जगदम्बा के भक्त, कुल-चर्चा चलने पर जिनका आनन्दातिरेक से रोमाञ्च हो उठे, वाणी गद्‌गद् हो जाय और अश्रु-पात होने लगे, वे ही उत्तम कौलिक हैं। ❀

अतएव गुरु को दीक्षा देने से पूर्व अपने भावी शिष्य की पूरी परीक्षा कर लेनी चाहिये कि जिस साधक को मैं दीक्षित करने जा रहा हूँ, उसने वीर-भाव में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त कर ली है या नहीं। परीक्षा के कुछ नियम शास्त्र ने इस प्रकार बताये हैं—

'जिसे दीक्षा लेनी हो, उसे गुरु अपमानपूर्वक खींचे और मारे। इस प्रकार खींचे व पीटे-मारे जाने पर जिसे विषाद न हो, बल्कि जो प्रसन्न होकर यह सोचे कि 'अब गुरु महाराज मुझ पर अनुग्रह करनेवाले हैं', ऐसा सोच-सोच कर आनन्द के मारे जिसको कम्प, रोमाञ्च, नेत्र तथा स्वर में विकृति पैदा हो जाय, उस साधक को दीक्षा देने के योग्य समझना चाहिये।' *

पशु-भाव के बाद उससे उच्चतर सोपान वीर-भाव है।

❀ त्रिसंध्यं देव-पूजां च त्रिसंध्यं जपमाचरेत्।
रात्रौ मन्त्रं च मालां च स्पृशेन्न कदाचन॥
न मन्त्रमुच्चरेत् भुक्त्वा मौनी स्यात् सर्व-कर्मसु।
मैथुनं तत्कथालापं तद्-गोष्ठीं परिवर्जयेत् ॥ भाव चू० ॥

❀ निवृत्त-दुःख-सन्तुष्टा निर्द्वन्द्वा गत-मत्सराः।
कुल-ज्ञान-रताः शान्तास्त्वद्-भक्तास्ते च कौलिकाः॥८४॥
कीर्त्यमाने कुले येषां रोमाञ्चो गद्‌गदः स्वरः।
आनन्दाश्रु पतेद्‌ वि कथिताः कौलिकोत्तमाः ॥८६॥ कुला–६

* आकृष्टस्ताड़ितो वाऽपि यो विषादं न याति च।
गुरुः कृपां करोतीति मुदा सञ्चिन्तयेत् सदा ॥२२॥
आनन्द-कम्प-रोमाञ्च-स्वर-नेत्रादि-विक्रियाः।
येषां स्युस्तेऽत्र योग्याश्च दीक्षा-संस्कार-कर्मणि ॥२४॥

वीर-भाव

वामे रामा रमण-कुशला दक्षिणे चालि-पात्रम्,
अग्रे मुद्राश्चणक-चटका शूकरस्योष्ण-मांसम् ।
तंत्री वीणा सरस-मधुरा सद्-गुरोः सत्कथायाम्,
कौलो मार्गः परम-गहनो योगिनामप्यगम्यः ॥
अलि-पिशित-पुरन्ध्री भोग-पूजा-परोऽहम् ।
बहु-विध-कुल-मार्गारम्भ-सम्भावितोऽहम् ।
पशु-जन-विमुखोऽहं भैरवीमाश्रितोऽहम्,
गुरु-चरण-रतोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽहम् ॥

पशु-भाव से साधना करते-करते साधक को अपने इष्ट-देवता के चरणों में पूर्ण भक्ति-भाव हो गया। उसको बिना अपने आराध्य-देव की मूर्ति का पूरा षोडशोपचार-पूजन किये कोई काम अच्छा नहीं लगता। उसके हृदय में कोमलता भी आ गई है। दान-पुण्य करने का भी अभ्यास हो गया है। वह कठिन-से-कठिन व्रत-उपवास भी कर सकता है और किया करता है। यह सब कुछ हो गया है, परन्तु अभी उसे साक्षात्कार नहीं हुआ। अभी वह अपने आपको इष्ट-देवता से भिन्न समझ रहा है। उसके हृदय में द्वैत-भाव बना हुआ है। वह जिस प्रतिमा को आज तक पूजता आ रहा है, उसी पाषाण-प्रतिमा पर देवत्व आरोपित किए हुए है। अभी उसकी साधना का आधार उसका पार्थिव शरीर ही है। वह अपने आपको किसी विशेष अवस्था या स्थान या समय में ही पाकर उपासना कर सकता है। हर एक अवस्था में उससे परमेश्वर का अनवरत चिन्तन नहीं हो सकता। वह कुछ-कुछ समझने तो लगा है कि ये अष्ट-पाश—घृणा, शंका प्रभृति बहुत बुरे हैं परन्तु अभी वह इन्हें छोड़ना तो दूर रहा, ढीला भी नहीं कर सका है। इनको तोड़ने के लिये विशेष अनुग्रह (शक्ति-पात) की आवश्यकता है। वह अनुग्रह-प्राप्ति पशु-भाव से नहीं हो सकती।

पहले लिखा जा चुका है कि पशु-भाव से साधक ने जब अपने शरीर तथा मन की शुद्धि कर ली हो, तब उसे वीर-भाव से साधना करनी चाहिये। पशु-भाव की साधना सीधी-सादी होने से उसके लिये गुरूपदेश होना इतना आवश्यक नहीं है, परन्तु वीर-भाव की साधना गुरूपदेश और गुरु के बताये विधान के बिना खाली पुस्तक पढ़कर या लोगों को देखकर कभी न करे। यह वीर-भाव कठिन मार्ग है, जैसा कैसा तो इसमें गुरूपदिष्ट मार्ग से भी चल कर फिसल जाता है। शास्त्र ने कहा है—

कृपाण-धारा-गमनात् व्याघ्र-कण्ठावलम्बनात्।
भुजङ्ग-धारणान्नूनमशक्यं कुल-वर्त्मनम् ॥१२॥ कुलार्णव-उल्लास २

अर्थात् 'तलवार की धार पर चलने, बाघ को गले लगाने और विष-धर सर्प को धारण करने से भी कठिन यह कुल-मार्ग है।' मेरुतन्त्र में लिखा है—

निन्दन्तु बान्धवा सर्वे त्यजन्तु स्त्री-सुतादयः।
जना हसन्तु मां दृष्ट्वा राजानो दण्डयन्तु वा॥
लक्ष्मीस्तिष्ठतु वा यातु न मुञ्चामि पथान्त्विदम्।
एवं यस्य दृढा भक्तिः स वामे सिद्धिमाप्नुयात्॥

अर्थात् 'चाहे नातेदार निंदा करें, स्त्री-पुत्र साथ छोड़ दें, चाहे लोग मुझे देख कर हंसें, चाहे राजा दण्डित करे, लक्ष्मी रहे चाहे जाय, परन्तु इस मार्ग को न छोड़ूंगा। इस प्रकार की दृढ़ भक्ति जिसमें हो, वही वाममार्ग (वीराचार) का अधिकारी है।'

वीराचार के सम्बन्ध में वशिष्ठ तथा बुद्ध की कथा पढ़ने लायक है। यह कथा रुद्रयामल के १७वें पटल तथा कुछ हेर-फेर के साथ ब्रह्मयामल के प्रथम पटल में दी है। कथा इस प्रकार है—

'ब्रह्मा जी के पुत्र वशिष्ठ जी ने एकान्त स्थल में रहकर अत्यन्त कठोर तप ६००० छः सहस्र वर्ष तक किया, परन्तु फिर भी उन्हें गिरिजा का साक्षात्कार न हुआ। वे खिन्न होकर ब्रह्मा जी के पास गए और प्रार्थना की—'मुझे कोई अन्य मन्त्रोपदेश कीजिये। इस विद्या से मुझे सिद्धि-लाभ होता नहीं दीखता अन्यथा मैं इसको आपके ही समक्ष कठोर शाप से शापित करूंगा।'

ब्रह्मा जी ने उन्हें रोककर उत्तर दिया—'हे योग-दत्त पुत्र! ऐसा न करो। तुम फिर पूर्ण मनोयोग से उस (जगदम्बा) का अर्चन करो, तभी वह प्रत्यक्ष होकर तुम्हें वर प्रदान करेगी। वह महाशक्ति सब दुःखों से त्राण करनेवाली है। वह करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान, करोड़ों चंद्रमाओं के समान सुशीतल तथा करोड़ों तडित्पुञ्जों के सदृश है। महा-नील-वर्णा है। वह काल-कामिनी सबकी आदि है। उसमें धर्माधर्म कुछ भी नहीं। वह सर्व-रूपिणी है। उसे शुद्ध चीनाचार प्रिय है। वह शक्ति-चक्र की प्रवर्तिका है। उसका माहात्म्य अनन्त है। वही संसार-सागर की तरणी है। वह बुद्धेश्वरी स्वयमेव बुद्धि-रूपा है। वह अथर्ववेद-साक्षिणी है। हे पुत्र! तुम क्यों इतने उतावले होकर शाप देने को तैयार हुए हो! उस महाशक्ति की अनन्य-चेता होकर उपासना करो, अवश्य वह तुमको दर्शन देगी।'

अपने गुरु के इन वचनों को सुनकर वशिष्ठ जी फिर तपस्या करने समुद्र-तट पर चले गये। पूरे एक सहस्र वर्ष तक फिर उन्होंने मन्त्र का जप किया,

परन्तु उनको कोई आदेश न मिला। मुनि ने क्रुद्ध होकर महाविद्या (तारा) को कठोर शाप दिया। इस पर कुलेश्वरी महाविद्या ने, जो योगियों के भय को नाश करनेवाली है, प्रकट होकर कहा—'क्यों विप्र! तुमने निष्कारण शाप क्यों दिया? तुम न तो मेरे कुलागम को ही समझते हो और न पूजा-पद्धति ही जानते हो। केवल योगाभ्यास से ही किस प्रकार देवता या मनुष्य मेरे चरण-कमलों का दर्शन प्राप्त कर सकते हैं? मेरी उपासना कठोर तप तथा काया-कष्ट से नहीं की जाती। मेरी कुलागम की उपासना पुराणों तथा वेदों से भी ऊँची है (अर्थात् वेद पशु-भाव-परक हैं)। महाचीन (जो बौद्ध देश है) में जाओ और अथर्ववेद के अनुसार चलो। वहाँ जाकर चीनाचार से उपासना करने पर तुमको मेरे पद-कमलों (जो स्वयं महा-भाव हैं) का साक्षात्कार होगा और तुम कुल-ज्ञानी तथा महा-सिद्ध बनोगे।'

यह कहकर भगवती अन्तर्धान हो गई। महाविद्या सरस्वती (नीलसरस्वती) से यह सुनकर वशिष्ठ मुनि महाचीन में गए, जहाँ बुद्ध भगवान् प्रतिष्ठित हैं और बुद्ध भगवान् को बार-बार प्रणाम करके मुनि ने कहा—'हे बुद्ध-रूपी शङ्कर! मैं ब्रह्मा का पुत्र वशिष्ठ आपकी शरण में आया हूं। मेरा मन भ्रम से पूर्ण है। मैं यहाँ महादेवी की साधना करने आया हूं। मैं सिद्धि-प्राप्ति के मार्ग से अनभिज्ञ हूं। आप दिव्याचार के ज्ञाता हैं। परन्तु आपके आचार को देखकर मेरे हृदय में नाना प्रकार के भय उत्पन्न हो रहे हैं (वशिष्ठ जी ने यहाँ पञ्च-मकार का सेवन देखा)। मेरे मन से, जो वैदिक आचारों की तरफ झुका हुआ है, इन भयों को दूर कीजिये। हे महाराज! आपके स्थान में तो मैं वेद-बहिष्कृत आचारों का ही प्राधान्य देख रहा हूं (मुनि को उस समय यही विश्वास था कि ये आचार वेद-विरुद्ध हैं)। यह क्या बात है कि श्रेष्ठ दिगम्बर सिद्ध-गण रक्त-पानोद्यत होकर मद्य-मांस का सेवन कर रहे हैं और रूपवती रमणियों से केलि कर रहे हैं? सर्वदा मांसासव से पूर्ण तृप्त होकर इनकी आँखें लाल हो रही हैं! ऐसे महा-सिद्धों के, जो प्रसन्न होने पर वर देने को और अप्रसन्न होने पर विनाश करने को समर्थ हैं, इन वेद-विरुद्ध आचारों पर किसकी श्रद्धा हो सकती है? इस प्रकार की प्रवृत्तियों से मनःशुद्धि कैसे सम्भव है? बिना वेदाचार के कैसे सिद्धि हो सकती है?'

बुद्ध भगवान् बोले—'हे वशिष्ठ! तुम उस कौल मार्ग को सुनो, जिसके विज्ञान-मात्र से ही मनुष्य अल्प-काल में रुद्रवत् हो जाता है। मैं उस कुल-सिद्धि प्रदान करनेवाले आगम-सार को तुमसे कहूंगा। पहले वीराचारी को शुद्ध, विवेक-युक्त और सर्व-प्रकार से पशु-भाव-रहित होना चाहिये। पशु-सङ्ग का सर्वथा परित्याग करके एकान्त-वास करे, काम-क्रोधादिक षड्रिपुओं को दूर करे।

हठ-योग का अभ्यास करे। वेदाध्ययन करके वेदों के तत्त्वार्थ को अच्छी प्रकार समझ लेवे। अपने मन को सदा औदार्यादि उन्नत वृत्तियों की ओर लगावे। प्राणायाम का अभ्यास करके क्रमशः अपनी मनोवृत्तियों को विनष्ट कर देवे। प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाता जाय।

अभ्यास करते करते उसकी ऐसी अवस्था हो जायेगी कि उसके शरीर से स्वेद-प्रवाह होने लगेगा। यह अवस्था अधम है। इससे उच्चतर अवस्था में शरीर काँपने लगता है, यह मध्यम अवस्था है। सर्वोच्च अवस्था में साधक भूमि से ऊँचा उठ जाता है। यह भूमि-त्याग की अवस्था परा है। इस प्रकार प्राणायाम सिद्ध हो जाने से साधक योगी हो जाता है। तब उसे मौनावलम्बन कर शिव, कृष्ण, ब्रह्मा प्रभृति की एकान्त भक्ति करनी चाहिये और मन में ऐसी धारणा करनी चाहिये कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव वायु के समान चञ्चल हैं। तब साधक को अपना मन आदि-शक्ति पर स्थिर करना चाहिये, जो चित्स्वरूपा है। तब इसके बाद साधक को महा-वीर-भाव से कुलाचार के अनुसार शक्ति-चक्र, वैष्णव सत्व-चक्र तथा नव विग्रह और सकल-दुःख-निवारिणी सकल-सुख-दायिनी सर्वोत्तमा प्रत्यक्ष देवता कुल-कात्यायनी का अर्चन करना चाहिये।

यह कुल-कात्यायनी जगज्जननी चिद्रूपा है। यही ज्ञान की आधार है, यही आनन्द की आधार है। कोटि विद्युत्प्रभाकाशा इसी महाशक्ति से सब तत्त्व बने हैं। यही अष्टादश भुजाओंवाली रौद्री शक्ति है, जो सुरा तथा मांस के पर्वतोपम ढेरों को पसन्द करती है। मनुष्य को उसकी शरण में रहकर कुल-मार्ग से उसके मन्त्र की साधना करनी चाहिये। त्रैलोक्य में कौन ऐसा है, जो इस मार्ग से अन्य उत्तम मार्ग बता सकता है? इसी मार्ग से साधना कर जगदम्बा की कृपा से ब्रह्मा लोकों की उत्पत्ति, विष्णु स्थिति और शिव संहार करने को समर्थ हैं। इसी वीराचार के प्रताप से दिक्-पाल भी रुद्रोपम हो गये।

वीर-भाव से साधना करने पर एक ही मास में आकर्षिणी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। दो मास के अभ्यास से बृहस्पति के समान विद्वत्ता प्राप्त हो जाती है। चार मास के अभ्यास से साधक दिग्पालोपम, पाँच मास के अभ्यास से कामदेव के समान और छः मास में रुद्र के समान हो जाता है। इस आचार का फल अन्य सभी आचारों से उत्कृष्टतम है, इसको शक्ति-सहित करे, तो ब्राह्मण छः मास में पूर्ण योगी हो जाय। बिना शक्ति के जब शिव भी कुछ नहीं कर सकते, तो बहुत थोड़ी बुद्धिवाले मनुष्यों के विषय में क्या कहा जाय।'

इस प्रकार कहकर बुद्ध-रूपी शङ्कर ने वशिष्ठ मुनि से वीराचार का साधन कराया और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा शक्ति इन पञ्च-मकारों से जगदम्बा का अर्चन करने से वे पूर्ण योगी हुए।'

ब्रह्मयामल में बुद्ध-रूपी शङ्कर के बदले बुद्ध-रूपी विष्णु, समुद्र-तट के बदले नीलाचल लिखा है। शेष विवरण प्रायः एक सा है।

उपर्युक्त कथा से वीर-भाव का साधन स्पष्ट हो जाता है और इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं रह जाता कि पञ्च-मकार वीर-भाव में अपने प्रकृत रूप में ही प्रयुक्त किये जाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्यों ऐसे गन्दे और लोक-विगर्हित पदार्थों से देवता का पूजन किया जाता है। सुरा-पान पञ्च-महा पापों में से है, मत्स्य-मांस उत्तेजक भोजन है, मैथुन से प्रायः सभी शास्त्रों ने बचने का ही उपदेश किया है। अगर यह अच्छा काम होता, तो क्यों न इस कार्य के करने के लिये लोक-वर्ग को उपदेश किया जाता? ज्यादा लिखना व्यर्थ है—दुनियाँ के एक कोने से दूसरे कोने तक के लोगों में इन मकार-चतुष्टय की प्रायः निन्दा ही सुनी जाती है, और आम तौर पर धर्म-भीरु समाज का यही विश्वास है कि तमाम धर्मों ने इनकी निन्दा ही की है। परन्तु यदि विद्वत्समाज जरा बारीकी से धर्म-शास्त्रों का अध्ययन और मनुष्य के नित्य के सामाजिक जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने बैठे, तो उसे पता लग जायगा कि ये पाँचों मकार मानव की भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक हैं और सभी धर्मों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इनका प्रतिपादन किया है।

कालिका पुराण का कथन है कि "जब ब्रह्मा जी ने सृष्टि उत्पन्न की, तब उनके हृदय की अत्यन्त कोमल भावना के फल-स्वरूप एक त्रैलोक्य-मोहनी रमणी उत्पन्न हुई, जिसको देखकर ब्रह्मा जी के मानस पुत्रों का क्या कहना, स्वयं ब्रह्मा जी विचलित हो उठे और इसके फल-स्वरूप एक त्रैलोक्य-मोहन पुरुष गौर-वेश में इक्षु-धनुष तथा पाँच पुष्प-बाणों से सज्जित होकर ब्रह्मा जी के मानस से उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा जी ने स्त्री का नाम "रति" तथा पुरुष का नाम "काम" रखकर दोनों को विवाहित कर दिया। इसी रति-काम-मिथुन में सृष्टि का आदि भाव अन्तर्निहित है। रति-काम के उत्पन्न होने से पूर्व ब्रह्मा जी मानसी सृष्टि करते थे, पर इस कार्य में भरोसा ही क्या था! प्रचोदना तो कुछ थी ही नहीं। जगज्जननी ने यह देखकर अपनी स्व-शक्तियों से रति-काम को उत्पन्न किया, जिससे उसकी सृष्टि चलती रहे। संसार के जन्तु-मात्र काम के कोमल पुष्प-शरों से विद्ध होकर बरबस सृष्टि उत्पन्न करने को बाध्य हों। फिर इस सम्भोगानन्द के वश-वर्ती होकर बनाये हुये इस संसार-चक्र में घूमते रहें। यही जगदम्बा की इच्छा है। गीता में कहा है—

ईश्वरः सर्व-भूतानां हृद्-देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

अर्थात् "परमात्मा (जगज्जननी) सब प्राणियों के हृदय देश में विराजकर उन्हें अपने माया-यन्त्र में बैठाकर घुमाते रहते हैं।"

जगज्जननी की यह आज्ञा है कि गृहस्थ बनो और सन्तानोत्पति करके उसका पालन करो, न कि लँगोटी लगाकर जङ्गल-जङ्गल की खाक छानो और उसके बनाये हुये शरीर को इस प्रकार मिट्टी खराब करो। किसी महात्मा का इस विषय में क्या ही सुन्दर उपदेश है—

श्रीपद ध्यान धरो हिरदै, जो कछू धन है सो यही धन है।
गुरु-ज्ञान की गूदरि डारो गरे, तन छार करो घर हो बन है॥
अजपा जाप सुजाप जपो, अरु सिद्ध-मढी अपनो तन है।
जिन सों घर माँझ कछू न बनै, उन सो बन माँझ कहा बन है॥

इसीलिये उसने विषयानन्द में भौतिक आनन्द की पराकाष्ठा कर दी। इसीलिये काम को धनुष-बाण-सहित उत्पन्न किया। इतने पर भी श्री शिव जी ने पगहिया तुड़ाने का प्रयत्न किया था, कामदेव को भी भस्म कर दिया। तभी शायद जगज्जननी को ये आयुध स्वयं धारण करने पड़े—

बालार्क-मण्डला-भासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशांकुश-शराँश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे॥

'सौन्दर्यलहरी' में भी लिखा है—

क्वणत्काञ्ची-दामा करि-कलभ-कुम्भ-स्तन-भरा।
परिक्षीणा मध्ये परिणत-शरच्चन्द्र-वदना॥
धनुर्बाणं पाशं सृणिमपि दधाना कर-तले।
पुरस्तादास्तान्नः पुर-मथितुराहो पुरुषिका॥ ७॥

तभी श्री शिव को आचार्य-पाद श्री शङ्कर के रूप में अवतार ग्रहण कर (ब्रह्मचारी होने पर भी) यह प्रार्थना करनी पड़ी—

नरं वर्षीयांसं नर्मसु जडम्।
तवापांगालोके पतति मनु धावन्ति शतशः॥
गलद्-वेणी-बन्धा कुच-कलश-विस्रस्त-निचयः।
हठात्त्रुट्यत्काञ्च्यो विगलित-दुकूला युवतयः॥ १३॥
(सौन्दर्यलहरी)

जो साधक श्रीयन्त्र का पूजन करते हैं, उनको स्पष्टतया ज्ञात ही है कि वह यन्त्रराज विराट् प्रकृति का चित्र है। उसके आचरणों पर विचार करने से सन्देह नहीं रह जाता कि जगज्जननी अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों से जीव का आकर्षण करके संसार में प्रवृत्त करती हैं। इसीलिये श्री दुर्गा-सप्तशती में सुमेधा ऋषि ने राजा सुरथ से कहा है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

किसी भी धर्म ने सम्भोग को निन्दनीय नहीं कहा है। स्त्री-पुरुष का विवाह-संस्कार इसी के लिये तो होता है। यदि यह बन्द कर दिया जाय, तो सृष्टि ही कैसे चले? सृष्ट्युत्पति प्रकृति और विनाश विकृति है। अपने विपरीत चलनेवाले को प्रकृति कैसे सह सकती है? सम्भोग प्राकृतिक कर्म होने से उत्तम कर्म सिद्ध है। जब यह प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक कर्म है, प्राकृतिक कार्य है तो इसका करना प्रकृति (जगदम्बा) का पूजन ही तो है। पूजन का अर्थ यह नहीं है कि देव-प्रतिमा पर गन्धाक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ा दिया और बस.. पूजन का अर्थ है "पूजित का परितोष"। यदि आप इस धूप, दीप, नैवेद्यादिक के ढकोसले को न करें और प्रकृति की आज्ञानुसार अपना निर्दिष्ट कर्म करते जायँ, तो वह आप पर प्रसन्न होगी और यदि आप उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन कर अपना निर्दिष्ट कर्म तो छोड़ दें और उसके बदले उसकी एक कल्पित मूर्ति गढ़कर उस मूर्ति को मल-मलकर नहलावें, फूलों से उसका शृङ्गार करें और उसके सामने लम्बी-चौड़ी प्रार्थनायें पढ़ें, तो वह अप्रसन्न ही होगी। किसी पुत्र का पिता उससे कहे कि 'बेटा, तुम्हारी परीक्षा के दिन निकट हैं, पढ़ने में परिश्रम करो' परन्तु पुत्र कहे, 'नहीं पिता जी, मैं तो आपके पैर दबाऊँगा, पढ़ूँगा नहीं', तो विचार कीजिये, पिता उस पुत्र पर प्रसन्न होगा? माँ ने बड़ी साध से इतनी सन्तानें पैदा कर रक्खी हैं कि ये मेरी सृष्टि चलावेंगे मगर बेटे राम माँ की साध पर लात मार कर लँगोटी लगाये बैठे हैं!

विवाह सम्भोग के ही हेतु होता है। इसके लिये व्यर्थ की दलील करना पिष्ट-पेषण-मात्र ही है। सारे संसार के अब तक के प्रचलित धर्म-ग्रन्थों में देखिये, आपको मिलेगा कि इतने अधिक आडम्बर तथा उत्सव और पूजोपचार के साथ मनुष्य का कोई संस्कार नहीं होता, जितना विवाह-संस्कार में किया जाता है। यदि यह कर्म निन्दित ही होता, तो उसके लिये इतना आडम्बर और उत्सव करने की क्या आवश्यकता थी? ईसाई, मुसलमान प्रभृति धर्मों में तो विवाह-संस्कार तक ही अलम् समझ लिया गया, परन्तु हमारे वेदों ने और धर्म-शास्त्रों ने तो "गर्भाधान" को भी एक संस्कार माना है और उसके लिये विधि तथा मन्त्र दिये गये हैं। देखिये पारस्कर-गृह्यसूत्र काण्ड १, कण्डिका ११, सूत्र ७-८—

"तामुदुह्य यथर्तं-प्रवेशनम्" सूत्र—७
यथा कामो वा काम विजनितोः
"सम्भवामेती वचनात्"
सूत्र—८

गदाधर भाष्य में इन दोनों सूत्रों का अर्थ इस प्रकार बताया है—

स्वभार्याभिगमनमाह तां वधूं पूर्वोक्त-विधिना उदुह्य विवाहयित्वा यथर्तं ऋतावृतौ प्रवेशनमभिगमनं कुर्यादित्यर्थः ॥ ७ ॥ स्त्रियः काममनतिक्रम्य यथा-कामं तदस्यास्तीति यथा-कामी वा भवेत् । न नियम ऋतो व्येवति । कुत एतत् ? काममावि जनितो सम्भवामेति वचनात् कामं स्वेच्छया अविजनितोः आप्रसवात् सम्भवाम भर्त्रा सह संगता भवामेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अर्थात् पूर्वोक्त विवाह-विधि से विवाहिता स्त्री के साथ पति ऋतु-काल में अभिगमन करे । अथवा जब स्त्री की इच्छा हो तो प्रसूति-समय तक सम्भोग करे । तात्पर्य यह हुआ कि ऋतु-मती न होने पर भी यदि उसकी सम्भोग की इच्छा हो तो उसे पूरा करे । ऋतु के अतिरिक्त यथा-काम सम्भोग करने के विषय में भाष्यकार ने तैत्तिरीय श्रुति का प्रमाण दिया है कि जब इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी तो उस ब्रह्म-हत्या का तीसरा भाग स्त्रियों को दिया गया और स्त्रियों ने उसके बदले माँगा कि सन्तान प्रसव करने के समय तक हम यथेच्छ सम्भोग कर सकें । इससे पहले स्त्रियाँ केवल ऋतु-काल पर ही सम्भोग कर सकती थीं । सम्भोग-सम्बन्धी कर्म-काण्ड को पढ़ कर पता चल जाता है कि आर्य लोग इस कर्म को परम पुनीत धार्मिक कृत्य समझते थे । इतना ही नहीं अपितु हमारे आर्य-सिद्धान्त के अनुसार सम्भोग यज्ञ है । देखिये शतपथ ब्राह्मण—स्त्री-पुरुष की रति-क्रिया अग्निहोत्र है । ऐत्तरेय ब्राह्मण—स्त्री देवता का पूजन बिना पुरुष देवता के विहित नहीं है । और—श्रद्धा, सत्य सर्वोत्तम सम्भोग हैं । लाटायन श्रौ० सू०, कात्यायन श्रौ० सू० अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार यह एक धार्मिक कृत्य (अथवा धार्मिक कृत्य का अङ्ग) है और इसमें मन्त्र पढ़े जाते हैं । वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों और उनमें दिये गये अग्निहोत्र-विधान को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्यों के अनुसार यह एक धार्मिक कृत्य है और साग्निक द्विज बिना इसके रह ही नहीं सकता । शतपथ ब्राह्मण में इड़ा (एक स्त्री) के मुख से कहलवाया गया है कि—"यदि तू याग-काल में संसर्ग रखेगा, तो मेरे कारण जो कुछ पुण्य उपलब्ध होगा, वह तुझे मिलेगा ।" आजकल हमारे समाज में श्रौत-स्मार्त हिंदू अग्निहोत्रियों का जो कर्मकाण्ड प्रचलित है, उसमें भी यज्ञ के समय जब अग्नि-स्थापन किया जाता है तब अपने देवता के कामोन्मत्त तथा उसकी शक्ति के ऋतु-मती होने की कल्पना की जाती है । यज्ञ-वेदी अथवा कुण्ड को देवी की योनि और उसमें जो अग्नि स्थापन की जाती है, उसको देवता का वीर्य माना जाता है और इसे अग्नि का गर्भाधान संस्कार कहते हैं । सौर, शैव, शाक्त तथा गाणपत्य—ये चार सम्प्रदाय तो खैर किसी-न-किसी हद तक पञ्च-मकार के प्रयोग के सम्बन्ध में बदनाम हैं ही परन्तु आम तौर पर वैष्णव सम्प्रदायवालों, जिन

पञ्च-मकार से दूर ही समझा जाता है, उनके यहाँ भी अग्नि-होत्र कर्म वैसा ही होता है जैसा अन्य चार सम्प्रदायों में। देखिये शाक्त-प्रमोद तांत्रिक होम-विधि। नारद-पञ्चरात्रोक्त होम-विधि में लिखा है—

ऋतु-स्नातां महालक्ष्मीमानयेत् कुश-विष्टरे।
सम्पूज्य लक्ष्मी-मनुना पद्माक्षां पद्म-सम्भवाम् ॥६४॥
क्षीरोदारामि-सम्भूतां विष्णोरनप-गामिनीम्।
मातरं सर्व-जगतो रिरिशु विष्णुमानयेत् ॥६५॥
संस्थितं ऋतु-दानाय कतांत्रमखिलेश्वरम्।
रेतोरुप-समानीय वह्नि-चारिणि सम्भवम् ॥६६॥
आत्मनोऽभिमुखं वह्निं जानुभ्यामवनी-गतः।
विष्णु-वीर्य-धिया देव्या योनावेनं विनिक्षिपेत् ॥७१॥

अर्थात् लक्ष्मी को ऋतु-मती कल्पना करे और विष्णु को सम्भोगोद्यत और तब अरणी-जन्य अग्नि को विष्णु-वीर्य समझ कर और यज्ञ-कुण्ड को लक्ष्मी की योनि समझ कर जमीन में घुटने टेक कर अग्नि-कुण्ड में डाले।—नारद पञ्चरात्रोक्त होम-विधि श्लोक ६४, ६५, ६६, ७१।

तात्पर्य यह कि कोई भी धर्म संसार में अद्यावधि ऐसा नहीं हुआ, जिसने प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से इसका समर्थन न किया हो। संसार भर में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ ऐसे मत-मतांतर भी हैं, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से इसकी निंदा की गई है, परन्तु परोक्ष रूप से इसका प्रतिपादन किया है। बौद्ध और जैन में यद्यपि संसार-त्याग ही धर्म है और गृहस्थ रहना पाप है परन्तु इन धर्मों के धर्म-गुरुओं को भी गृहस्थों को अपना चेला बनाना पड़ा। बौद्धों ने तो वाम-मार्ग को इतना अधिक ग्रहण किया है कि शायद ही कोई बौद्ध-तन्त्र हो, जिसमें वीराचार तथा पञ्च-मकार की महिमा न गाई गई हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्त्री-सम्बन्ध सब धर्मों, समाजों और जातियों में अच्छा कार्य ठहराया गया है और जिन धर्मों (जैन, बौद्ध) ने इसको बुरा बताया है, वे और उनके अनुयायी भी इसको नहीं छोड़ सके बल्कि इस समय तो जैन और बौद्ध-धर्मावलम्बी ब्रह्मचारी बहुत ही कम देखने में आते हैं। अन्य मकार-चतुष्टय (यानी मुद्रा, मद्य, मांस तथा मीन) का व्यवहार भी सम्भोग की तरह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूप में सभी धर्मों तथा जातियों ने किया और कर रहे हैं। मुद्रा के विषय में तो कोई सन्देह नहीं है क्योंकि मुद्रा सिर्फ चर्वणीय अन्न मात्र है। अब प्रश्न केवल मांस, मीन तथा मद्य के ही विषय में है।

संसार के सभी धर्मों का मूल-स्रोत वेद हैं, इसमें सन्देह करने की अब कोई गुञ्जाइश नहीं रह गई है।

वैदिक आर्य मद्य-मांस का अपने यज्ञों और उत्सव में खूब प्रयोग करते थे। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मद्य-मांस उनके नित्य के खान-पान के प्रिय पदार्थों में से थे इनकी प्रशंसाओं तथा प्रयोग-विधियों से सारा वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। वैदिक आर्य सोम-यज्ञ तथा हविर्यज्ञ किया करते थे, जिनमें से एक यज्ञ सौत्रामणि था, जिसमें मद्य से पूजनादिक होता था और मद्य-पान होता था। यथार्थ में यह यज्ञ मद्य-पान के ही लिये किया जाता था, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी। देखिये शतपथ ब्रा० ५, १, १३। श्रौत-सूत्रों को देखने से भी इस यज्ञ का विशद परिचय ज्ञात होगा, शतपथ ब्राह्मण में यह भी कहा है कि मद्य यजमान को पवित्र करता है और मद्य स्वयं ही पवित्र है। ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल में ऋषि काक्षिवान् ने मद्य की बहुत प्रशंसा की है। धर्म-सूत्रों ने अनियन्त्रित मद्य-पान की निन्दा की है। देखिये आपस्तम्ब ध० सू०।

वामन-शास्त्रि किंजवड़े कृत पश्वालम्भ मीमांसा की भूमिका पृष्ठ ९, १०, ११—तैत्तिरीय संहिता (३-१-४) में पशु के मांस को हवि कहा है। ऋग्वेद-संहिता ५-२-२२ में अग्नि में पशु के मेद का होम करने का विधान कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (६-८) के अनुसार आर्य-गण नर-बलि, अश्वालम्भ आदि भी करते थे। कात्यायन-श्राद्ध-कल्प-सूत्र (६-७) के अनुसार 'छाग, उष्ट्र, मेष को स्वयं मार कर अथवा उनके मांस को स्वयं खरीद कर या किसी अन्य प्रकार से उपलब्ध कर उस मांस को पितरों के लिये पकावे।' कात्यायन-श्राद्ध-कल्प-सूत्र की कण्डिका ७ तथा ८ में श्राद्ध-हवि की पूरी सूची दी गई है। उसमें—छाग, उष्ट्र, मेष, मत्स्य, हरिण, शकुनि, जंगली मेढ़ा, कछुवा, वराह, महिष इत्यादि स्थल, जल तथा नभ-चर प्राणियों के मांस को श्राद्ध हवि बताया है। खड्ग (गैंडा), लोहित छाग, महा-शल्क (मत्स्य) के मांस से पितरों को अक्षय तृप्ति होती है। इन्हीं को स्मृतिकारों ने श्राद्ध-हवि माना है। मनुस्मृति अ० ३,—श्लोक २६८ से २७२ तक में लिखा है कि 'पितरों के लिये नाना प्रकार के भक्ष्य भोज्य विविध फल-मूलादिक सुस्वादु मांस तथा सुगंधित पानीय प्रदान करने चाहिये।' अन्य स्मृतियों ने भी यही कहा है। मांस-विरोधी लोग इसके खण्डन में पराशर-स्मृति का एक श्लोक बहुत उद्धृत करते हैं—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पल-पैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

इसके विषय में निवेदन है कि इसी श्लोक से मांस का व्यवहार पूरा सिद्ध होता है। इस श्लोक का आदेश है कि कलियुग में अश्वालम्भ, गवालम्भ और मांस से पितरों का श्राद्ध वर्जित है। इससे दो बातें सिद्ध हुईं। एक तो यह

कि कलियुग से पहले ये तीनों बातें होती थीं। दूसरी यह कि मांस का सम्बन्ध उपर्युक्त तीन ही बातों में वर्जित है। अर्थात् यह श्लोक पशु-बलि तथा मांस के प्रयोग के सम्बन्ध में अपवाद है। इन दो प्रकार के बलिदान तथा श्राद्ध में मांस-प्रयोग को छोड़ कर अन्य प्रकार की पशु-बलि (जैसे महिष, छाग, प्रभृति) अन्य कार्यों (जैसे विवाह, उपनयन, देव-पूजन प्रभृति) में मांस का प्रयोग होता है। परन्तु पराशर-स्मृति मनु, याज्ञवल्क्य के समान सर्व-मान्य नहीं है। पराशर-स्मृति का चलन भारतवर्ष में सिर्फ मद्रास प्रान्त में है।

श्राद्ध में मद्य का प्रयोग होता है। देखिये कात्यायन-कल्प-सूत्र ३।६ का गदाधर-भाष्य। यजुर्वेद संहिता २।३४।१ का मन्त्र 'ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् स्वधास्तर्पयंत मे पितॄन्।' स्पष्ट है। इस मन्त्र से पितरों की तृप्ति के लिये अमृतोपम चार वस्तुयें प्रदान करने का वर्णन है— यथा घृत, पय, कीलाल तथा परिस्रुत याने घी, दूध, जल तथा सुरा। परिस्रुत सुरा को कहते हैं। 'सुरा, हलि-प्रिया, हाला, परिस्रुद्वरुणात्मजा'— अमरकोष। इसी कल्प-सूत्र के ३।७७ के गदाधर-भाष्य में श्राद्ध में ब्राह्मणों के विसर्जन का मन्त्र (त० सं० २१।११।१) इस प्रकार है—

वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिवत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देव-यानैः॥

इस मन्त्र के शब्दों 'अस्य मध्वः पिवत मादयध्वम्' पर ध्यान दीजिये। इनका अर्थ है 'इस मधु को पीकर नशे में उन्मत्त हों।' अच्छा, मधु शहद को भी कहते हैं और मद्य को भी; यहाँ पर मधु का अर्थ मद्य ही है। यह दो बातों से सिद्ध होता है। एक तो शहद पिया नहीं जाता, मद्य पिया जाता है। दूसरे शहद खाकर नशा नहीं होता, मद्य पीकर होता है। वैदिक ग्रन्थों में एक नहीं, सहस्रों प्रकरण मद्य-मांस के प्रयोगों के हैं। उपर्युक्त थोड़े से उद्धरण उदाहरण-स्वरूप दिए गये हैं। विशेष जानने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है।

वैदिक ही नहीं, पौराणिक साहित्य में भी इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि मद्य-मांसादिक का उस काल के लोगों में अबाध प्रचार था। ब्रह्माण्ड पुराण के मध्य-भाग उपोद्घात पाद के अध्याय उन्नीस में श्राद्ध-हवि में मांस-मत्स्य का प्रयोग वैसा ही बताया है, जैसा कि मनुस्मृति में। देखिये—इस अध्याय के श्लोक २ से ९ तक। मद्य-पान करने से ऋषि का नाम कश्यप पड़ा—'कश्य मद्यं स्मृतं विप्रैः कश्य-पानात्तु कश्यपः।' १२१॥ ब्रह्माण्ड-पुराण पू० भा० उपो० पा० अ० १।

भविष्य-पुराण ब्राह्म-पर्व अ० १७३ में श्रीकृष्ण का अपनी रानियों के साथ द्वारिका-पुरी में मद्य-पानादिक का वर्णन है। लिंग-पुराण, पूर्व-भाग अध्याय ७८ में लिखा है कि 'आपव नाम का एक शक्ति-पूजक ब्राह्मण था, जो मद्य-पान में तत्पर रहता था। वह श्रीभद्रकाली का प्रिय भक्त था। यही आपव ब्राह्मण देवी के वर से दूसरे जन्म में वरुण देवता हुआ'--प्र० प० खं० ३, अ० १६, श्लो० ८४।

'आश्विन के शुक्ल-पक्ष की महाष्टमी व महानवमी को श्रीचण्डिका का पूजन किया जाता है, जिसमें मेष, छाग तथा महिषादिक की बलि दी जाती है और जितना भगवती महिष बलि से प्रसन्न होती है, उतना दूसरे पशु की बलि से नहीं। भक्त-जनों को चाहिये कि भगवती को मेष, छाग, महिष की सौ, पचास, पच्चीस या जितनी शक्ति हो, बलि दें और मद्य से घट स्थापन कर जगदम्बा का तर्पण करें। कापालिकों को मद्य-मांस से जिमावें तथा प्रसाद-स्वरूप इस मद्य-मांस को स्वयं ग्रहण करें और अपने इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव तथा सेवकों में वितरण करें'—श्रीकृष्ण का वाक्य अर्जुन के प्रति, भविष्य-पुराण उत्तर-पर्व, अ० १३८।

मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत दुर्गा-सप्तशती में स्वयं देवी ने अपने श्रीमुख से कहा है--'पशु पुष्प धूप दीप से मेरी पूजा करनी चाहिये'--अ० १२। महिषासुर-युद्ध में देवी ने मद्य-पान किया और फिर नशे से लड़खड़ाती वाणी में महिषासुर को डाँटा--अ० ३।

'धार्मिक कार्यों के निमित्त राजा मृगया में मेध्य (जिनका मांस खाने योग्य हो) पशुओं का उतनी ही संख्या में वध करे, जितना पर्याप्त हो। लोभ-वश आवश्यकता से अधिक का वध न करे, यह नियम है'--श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ४, अ० २५, श्लो० ६।

'राजा गय के यज्ञ में देवराज इन्द्र ने इतना अधिक सोम-पान किया कि वे उन्मत्त हो गये'—श्रीमद्भागवत, ५-१५-१२॥

'जब श्री बलराम जी गोपियों के साथ ब्रज-वनों में यमुना के तीर रमण कर रहे थे, तब उनके लिए वरुण ने वारुणी देवी (सुरा) को वृक्ष-कोटर में भेजा। उसकी उन्मत्त करनेवाली गन्ध को, जो वायु में फैल रही थी, सूँघकर ब्रज की स्त्रियों के साथ बलराम जी वृक्ष-कोटर पर पहुँचे और स्त्रियों के साथ उस (वारुणी) को पिया, जिससे नशे के कारण उनके नेत्र विह्वल हो गये' इत्यादि-श्रीमद्भागवत १० (उत्तरार्ध) ६५; श्लोक १६, २०।

'यादवों ने प्रवास क्षेत्र में एकत्रित होकर मैरेय नाम की मद्य पी और उससे मदोन्मत्त होकर आपस में लड़ने लगे'--श्रीमद्भागवत ११-३०, श्लोक

१२-१३ ।

ईसाई, मुसलमान और यहूदियों के भी यही हाल हैं। ईसाइयों और यहूदियों में ईश्वर की पूजा में मांस-मद्य का प्रयोग होता है। मुसलमानों में यद्यपि इह-लोक में मद्य-सेवन वर्जित है, परन्तु स्वर्ग में मुसलमानों को मद्य पीने को मिलती है। मांस के विषय में कहना ही क्या है, मुसलमानों के बक-रीद के त्योहार से सभी परिचित हैं।

वैष्णव धर्म ही केवल ऐसा है, जिसके अनुयायी मद्य-मांस को अत्यंत ही घृणा की दृष्टि से देखते हैं और इनका सेवन जघन्य पाप समझते हैं, परन्तु उनकी सर्व-मान्य पुस्तक श्रीमद्भागवत से ही मद्य-मांस-सेवन का प्रतिपादन होता है। भगवान् के अवतार श्री बलराम जी मद्य के नशे में सदा चूर रहते थे और इसी कारण मद्य का नाम 'हलि-प्रिया' अर्थात् हलधर--बलराम की प्रिया पड़ गया। सर जान उडरफ ने अपनी पुस्तक 'शक्ति ऐण्ड शाक्त' में एक स्थान पर लिखा है कि भारतवर्ष के प्रसिद्ध वैष्णव पीठ श्रीजगन्नाथ जी में जो भगवान् को भोग लगता है, वह मद्य से प्रोक्षित किया जाता है। यहाँ पर सर जान उडरफ के ही शब्द लिख देने उचित प्रतीत होते हैं--

I may here mention in this connection that not only are drops of wine sometimes sprinkled consumed by persons who are not *Viracharis* but (though this is not generally known and will perhaps not be admitted) on the *Prasad* which all consume at the *Vaishnava* shrine of *Jagannath* at *Puri*'—SHAKTI & SHAKTA-P.346 ।

अर्थात् इस प्रसङ्ग में मैं यह लिखना भी उचित समझता हूँ कि दुर्गा-पूजा के अवसर पर तो देवता का प्रसाद मद्य से प्रोक्षित किया ही जाता है और इस प्रसाद को शाक्त ही नहीं वरन् शाक्तातिरिक्त लोग भी ग्रहण करते हैं परन्तु पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर में भी प्रसाद पर मद्य छिड़का जाता है (यद्यपि इस बात को सर्व-साधारण नहीं जानते) और उस प्रसाद को सभी ग्रहण करते हैं।

इसी बात को देखते हुए श्रीमद्भागवत को ही यह मत स्थिर करना पड़ा कि--

लोके व्यवायामिष मद्य-सेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितस्तेषु विवाह-यज्ञ-सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ ११-५-११

अर्थात् 'इस दुनियाँ में किसी से यह कहना नहीं पड़ता कि तुम सम्भोग, मांस और मादरा का सेवन करो; ये बातें मनुष्य को स्वभाव से ही प्रिय हैं।

इन तीनों की कुछ व्यवस्था कर देने के लिए अर्थात् इनका उपयोग कुछ मर्यादित करने के लिये (शास्त्रों ने) अनुक्रम से विवाह, सोम-याग और सौत्रामणि-यज्ञ की योजना की है। परन्तु इस पर भी निवृत्ति इष्ट है।'

अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि पञ्च-मकार का सेवन किसी भी धर्म में निंदनीय नहीं है। हाँ, इनका अमर्यादित उच्छृङ्खल सेवन नहीं होना चाहिये। सम्भोग अपनी पत्नी से करना चाहिये, पर-पत्नी से नहीं। मद्य-मांसादिक (बाकी मकार-चतुष्टय) को अपनी जिह्वा-तृप्ति के हेतु सेवन नहीं करना चाहिये, बल्कि देवता को अर्पण कर फिर प्रसाद-स्वरूप इनका सेवन करना चाहिये। अब ऐसी दशा में वीराचारियों की उपासना में इन मकारों का प्रयोग करने के कारण उन्हें घृणा की दृष्टि से क्यों देखा जाता है, यह समझ में नहीं आता!

कुलाचार साधना का मार्ग है और इसमें पञ्च-मकार का प्रयोग केवल अष्ट-पाशों का छेदन कर जीव को स्वतन्त्र उन्मुक्त करने के निमित्त ही किया जाता है। आगे चलकर यह बताने का प्रयत्न किया जायेगा कि वीर-भाव (कुलाचार) के अनुसार पञ्च-मकार केवल साधना में ही प्रयुक्त होते हैं और वाममार्ग में यदि सारा संसार प्रवेश कर जाय, तो अधिकांश लोगों का मद्य-मांस, स्त्री-सेवन सदा के लिये छूट जाय। तन्त्रों में वीराचार के नियम तथा पञ्च-मकार के प्रयोग के विषय में जो आज्ञायें दी गई हैं, उनको देखने से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि पञ्च-मकार के सेवन के विषय में वाममार्गियों के नियम अत्यन्त ही कठिन हैं और जितनी अधिक रोक इनके प्रयोग के सम्बन्ध में वीराचार की साधना से हो सकती है, उतनी अन्य धर्मों तथा आचारों की साधना से नहीं। तन्त्र की ऐसी कुछ आज्ञायें यहाँ उद्धृत की जाती हैं—कुलार्णव, उल्लास २, श्लोक १२३।

वृथा-पानं तु देवेशि सुरा-पानं तदुच्यते।
तन्महा-पातकं ज्ञेयं वेदादिषु निरूपितम्॥

'हे देवेशि, वृथा-पान (बे मतलब का; बिना पूजन किए) को ही मद्य-पान कहते हैं और वेदादि शास्त्रों ने इसको महापातक बताया है।'—

तस्मादविधिना मांसं मद्यं न सेवते क्वचित्।
तृणं वाप्यविधानेन छेदयेन्न कदाचन।
विधिना गां द्विजं वापि हत्वा पापैर्न लिप्यते॥

अतएव बिना विधि के मांस-मद्य का कभी सेवन न करे। बिना विधान के तृण का भी छेदन न करे और विधि-विहित रीति से हिंसा करने पर भी पाप नहीं है। कुलार्णव उ० २, १३४, १३५।

पितृ-दैवत-यज्ञेषु वैध-हिंसा विधीयते ।
आत्मार्थं प्राणिनां हिंसा कदाचिन्नोदिता प्रिये ॥
अनिमित्तं तृणं वापि छेदयेन्न कदाचन ।
देवतार्थं द्विजार्थं वा हत्वा पापैर्न लिप्यते ॥
मत्स्य-मांस-विहीनेन मद्येनापि न तर्पयेत् ।
न कुर्यान्मत्स्य-मांसाभ्यां विना द्रव्येण पूजनम् ॥
मन्त्र-पूतं कुल-द्रव्यं गुरु-देवार्पितं प्रिये ।
ये पिबन्ति जनास्तेषां स्तन्य-पानं न विद्यते ॥
निःशङ्को निर्भयो वीरो निर्लज्जो निष्कुतूहलः ।
निर्णीत-वेद-शास्त्रार्थी वरदां वारुणीं पिबेत् ॥

वैध-हिंसा वही है, जो दैवत तथा पितृ-यज्ञों में विहित हो। अपने स्वाद के लिये हे प्रिये ! प्राणि-वध कदापि विहित नहीं है। व्यर्थ तृण भी न तोड़े। देवता अथवा द्विज के अर्थ जीव-घात करने पर पाप नहीं होता। बिना मत्स्य-मांस के केवल मद्य ही से कभी तर्पण (पूजन) न करे और न मद्य के बिना केवल मत्स्य-मांस से ही ऐसा करे। मन्त्रों से पवित्र किया हुआ कुल-द्रव्य (मद्य) गुरु तथा देवता को अर्पण कर जो पीते हैं, वे जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

जिसको किसी से शङ्का नहीं है, भय नहीं है, जो वीर है और लज्जा व कुतूहल से रहित है और जिसने वेद तथा शास्त्रों का अध्ययन कर उनका अर्थ पूर्ण-रीत्या हृदयङ्गम कर लिया है, वही मनुष्य वर-दात्री वारुणी के पान करने का अधिकारी है।

देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य देवि शास्त्रोक्त-वर्त्मना ।
गुरुं स्मरन् पिबन्मद्यं खादन्मांसं न दोष-भाक् ॥
मन्त्रार्थ-स्फुरणार्थाय मनसः स्थर्य-हेतवे ।
भव-पाश-निवृत्यर्थं मधु-पानं समाचरेत् ॥
मत्स्य-मांस-सुरादीनां मादकानां निषेवणं ।
याग-कालं विनान्यत्र-दूषणं कथितं प्रिये ॥

कुलार्णव पञ्चमोल्लास

आवृत्तिं गुरु-पंक्तिञ्च वटुकादीन्न पूज्य यः ।
वीरोऽप्यत्र वृथा पानो देवता-शापमाप्नुयात् ॥
असंस्कारी तु योनौ स्यात् पञ्च-मुद्रा निषेवते ।
कुलेशि ब्रह्म-निष्ठोऽपि निन्द्यतामधिगच्छति ॥

हे देवि ! शास्त्रोक्त मार्ग से देवता तथा पितरों का पूजन कर मांस खाने-वाला और मद्य पीनेवाला दोष का भागी नहीं है। हे प्रिये ! मत्स्य-मांस, सुरा प्रभृति मादक वस्तुओं का सेवन पूजा-काल के अतिरिक्त अन्य समय में करना दोष माना गया है। मन्त्र के अर्थ का स्फुरण, मन के स्थैर्य तथा संसार-बन्धन की निवृत्ति के ही अर्थ मद्य-पान करे। आवरण-पूजा, गुरु-तर्पण और बटुकादिक का पूजन किये बिना व्यर्थ मद्य-पान करनेवाला यद्यपि वीर भी हो, तो भी देवता के शाप को प्राप्त होता है। जिसका वाममार्ग में दीक्षा-संस्कार न हुआ, वह चाहे ब्रह्म-निष्ठ ही क्यों न हो, पञ्च-मकार का सेवन करने से निन्दा को प्राप्त होता है।" उ० ५, श्लोक ४५, ४६, ५४, ७६, ८२, ८४, ८७, ८९, ९२, १०५।

असंस्कृता सुरा पाप-कलह-व्याधि-दुःखदा।
आयुः श्री-कीर्ति-सौभाग्य-धन-धान्य-विनाशिनी॥
तस्मात्संस्कृत्य विधिवत्कुल-द्रव्यं ततोऽर्चयेत्।
अन्यथा नरकं याति दाता भोक्ता न संशयः॥

बिना मन्त्रों द्वारा संस्कृत की गई सुरा कलह तथा व्याधि उत्पन्न करने-वाली तथा आयु, श्री, कीर्ति, सौभाग्य, धन, धान्य का विनाश करनेवाली है। इसलिये विधिपूर्वक मन्त्रों से मद्य का संस्कार कर अर्चन करे (तब पीवे) अन्यथा दाता तथा भोक्ता दोनों ही नरक जाते हैं, इसमें संशय नहीं।" कुलार्णव उ० ६, ३१, ३२।

स्वशक्तिं वीर-शक्तिं वा दीक्षितां कुल-मार्गतः।
पाययित्वा चरेत्पानमिति शास्त्रस्य निश्चयः॥
अदीक्षितां स्त्रियं कुर्यात् सद्यः संस्कारमम्बिके।
मन्त्र-दीक्षा-विधानेन कर्तव्यं कुल-नायिके॥
निर्मन्त्रं न पिबेन्मद्यं प्रायश्चित्तं विधीयते।
तस्मान्मंत्र-विधानेन शुद्धा भवति नान्यथा॥
भोजनान्ते विषं मद्यं पानान्ते भोजनं विषं।
अमृतं तद्विजानीयाद्यदन्नं सुरया सह॥
चर्वणेन युतं पानं अमृतं कथितं प्रिये।
चर्वणेन विना केवलं विष-भक्षणम्॥
दृष्टि-मानस-वाक्काये यावन्नो भवति भ्रम—
स्तावत्पानं प्रकुर्वीत पशु-पानमतःपरम्॥
यावन्नेन्द्रिय-वैकल्यं यावन्नो मुख-वैकृतिः।
तावदेव पिबेन्मद्यमन्यथा पतनं भवेत्॥

'शास्त्र की यह आज्ञा है कि अपनी स्त्री अथवा वीर-शक्ति को, जो कुल-मार्ग में दीक्षित हो, पहले मद्य-पान कराये तब स्वयं पीवे। यदि अदीक्षिता स्त्री हो, तो उसका सद्यः दीक्षा-संस्कार कर लेवे। बिना मन्त्र-दीक्षा प्राप्त किये स्त्री शुद्ध नहीं होती। बिना मन्त्र के मद्य पान न करे, ऐसा करने से प्रायश्चित्त करना पड़ता है। भोजन के बाद मद्य-पान तथा मद्य-पान के बाद भोजन करना विष है। भोजन के साथ-ही-साथ मद्य-पान अमृत है। चर्वण के साथ पान अमृत है और चर्वण के बिना केवल मद्य-ही-मद्य पीना विष है। दृष्टि, मन, वाणी तथा शरीर में जब तक विभ्रम नहीं होता, तभी तक मद्य पीना चाहिये। इससे आगे पीना पशु-पान है। जब तक इन्द्रियाँ विह्वल नहीं हुईं, जब तक मुख विकृत नहीं हुआ, तभी तक मद्य पीना चाहिये। जो इससे अन्यथा आचरण करता है, उसका पतन होता है।' कु० उ० ७—श्लोक ३७, ३८, ७३, ९३, ९४, ९७, ९८।

अदीक्षितैरनाचारैरतन्त्रज्ञैरदैवतै—
दूषकैः समय-भ्रष्टैर्न कुर्याद् द्रव्य-संगतिम्॥
स्त्री-द्विष्टैर्गुरुभिः शप्तैर्भक्ति-हीनैर्दुरात्मनि।
कुलोपदेश-हीनैश्च न कुर्याद् द्रव्य-संगतिम्॥
स्त्री-पुत्र-मित्र-बन्धूनां स्निग्धानामपि पार्वति।
कुलाचारानभिज्ञानां सङ्गतिं वर्जयेत् प्रिये॥
कामुको न स्त्रियं गच्छेद् यदीच्छन्तीमदीक्षितां।
सद्यः संस्कार-संशुद्धां विहितत्वात् स्त्रियं व्रजेत्॥

'दीक्षा-विहीन, सदाचार-विहीन, तन्त्रशास्त्र से अनभिज्ञ, देवता पर भक्ति न रखनेवाले, पर-निन्दा करनेवाले, समय-भ्रष्ट व्यक्ति के सङ्ग में कुल-द्रव्य का सेवन न करे। स्त्रियों से द्वेष करनेवाले अथवा स्त्रियाँ जिससे द्वेष करती हों, गुरु-जनों से शप्त, भक्ति-हीन, दुरात्मा तथा कुलोपदेश से हीन व्यक्ति के सङ्ग में कुल-द्रव्य का सेवन न करे। अपने स्त्री-पुत्र, मित्र, बन्धु चाहे परम-स्नेही भी हों, यदि कुलाचार से अनभिज्ञ हों, तो उनके सङ्ग कुल-द्रव्य का सेवन न करे। अदीक्षित स्त्री के साथ कभी सम्भोग न करे, चाहे उसकी इच्छा भी हो। सद्यः संस्कार से शुद्ध स्त्री के साथ सम्भोग करना विहित है।' कु० उ० ८—श्लोक ८, १०, १३, ११०।

मद्यं मांसं च मत्स्यं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकार-पञ्चकं देवि देवता-प्रीति-कारकम्॥
मादि-पञ्चकमीशानि देवता-प्रीतये सुधीः।
यथा-विधि निषेवेत तृष्णया चेत्स पातकी॥

'मद्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन —ये पञ्च-मकार देवता-प्रीति-कारक हैं। इन पञ्च-मकारों को विद्वान् लोग देवता-प्रीति के लिये सेवन करते हैं। जो इनका तृष्णा के कारण सेवन करता है, वह पापी है।' कु० उ० १०—श्लोक ५-६।

बिना मन्त्रेण या पूजा बिना मांसेन तर्पणं।
बिना शक्त्या तु यत्पानं निष्फलं कथितं प्रिये॥
अस्नात्वा वाप्यभक्त्या वा लोभाद्वापि कुलेश्वरि।
यः सेवेत कुल-द्रव्यं सदाऽविद्यामवाप्नुयात्॥
उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो मुक्त-केशो गणावृतः।
व्यग्रो रुष्टो विवादी च न सेवेत कुलामृतम्॥
नाभिषेको न मन्त्रो वा न शास्त्र-पठनादिकं।
कारणं कुल-धर्मस्य सदाचारः कुलेश्वरि॥
संस्कारेण विहीनत्वात् गुरु-वाक्यस्य लंघना-
दाचार-वर्ज्जनाद्देवि कौलिकः पतितो भवेत्॥
बहुनात्र किमुक्तेन रहस्यं शृण् पार्वति।
वर्णाश्रमाणां सर्वेषां आचारः सद्गति-प्रदः।

'बिना मन्त्र के पूजा, बिना मांस के तर्पण तथा बिना शक्ति (स्त्री) संसर्ग के मद्य-पान निष्फल कहा गया है। बिना स्नान किये अभक्ति से अथवा लोभ से जो कुल-द्रव्य (मद्य) का सेवन करता है, वह सदा अविद्या को प्राप्त करता है। जिसने उष्णीष या कञ्चुक पहन रखी हो, या जो नग्न हो, जो जन-समुदाय से घिरा हुआ हो, जो व्यग्र हो, जो क्रोध में हो, जिसकी झगड़ा करने की आदत हो, वह कुलामृत का सेवन न करे। हे कुलेश्वरि! अभिषेक, मन्त्र अथवा शास्त्रों का स्वाध्याय कुल-धर्म (वीराचार) के लिये उतना आवश्यक नहीं हैं, जितना सदाचार है। संस्कार-विहीन होने से, गुरु-वाक्य का अति-क्रमण करने से तथा सदाचार-विहीन होने से कौलिक पतित होता है। हे पार्वति! बहुत क्या कहना है, रहस्य यह है कि वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार आचरण सबको सद्गति प्रदान करनेवाला है।" कु० उ० ११—श्लोक १०, १७, १८, ६८, १०१, १०७।

मादकं वस्तु-सकलं वर्जयेत्कनकादिकम्''' .....

'कनकादिक सभी मादक वस्तुओं का वर्जन करे'—ज्ञानार्णव २२ पटल—श्लोक २५।

परान्नञ्च पर-द्रव्यं तथैव तु परिग्रहं।
पर-स्त्रीं पर-निन्दाश्च मनसापि विवर्जयेत् ॥
जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं पर-स्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने ॥

'पराान्न, पर-द्रव्य, प्रतिग्रह, पर-स्त्री, पर-निन्दा—इनको मन में भी न लावे। पराान्न से जिह्वा दग्ध, हाथ प्रतिग्रह से दग्ध, मन पर-स्त्री से दग्ध होने पर कैसे सिद्धि मिल सकती है?' शक्तिसङ्गम काली-खण्ड ३ पटल—१०१, १०२।

सदा पञ्च-मकारैश्च पूजयेत्कालिकाम्बिकां।
शक्तिं बिना नहि जपेन्न शक्तिः कारणं बिना ॥

'कालिका का पूजन सर्वदा पञ्च-मकार से करे, शक्ति के सङ्ग बिना जप न करे और बिना कारण (मद्य) के शक्ति (स्त्री) का सङ्ग न करे।' श० सं० तारा-खण्ड ६-६।

दीक्षितां देवता-भक्तां घृणा-लज्जा-विवर्जितां।
जपासक्तां समासाद्य सर्वं संसाधयेच्छिवे ॥

'दीक्षिता' देवता में भक्ति रखनेवाली, घृणा-लज्जादिक पाशों से जो मुक्त हो गई है, मन्त्र-जप में लगी हुई ऐसी स्त्री प्राप्त कर उसके सङ्ग से सर्व-साधनायें करे।' श० सं० ता० खं० १३-१११।

तरुणीं सुन्दरीं रम्यां चञ्चलां काम-लोलुपां।
गुरु-भक्तां मन्त्र-युक्तां सर्व-लक्षण-संयुताम् ॥
ईदृग्विधां समानीय प्रसून-तूलिकोपरि.....।

'तरुणी, सुन्दरी, रमणीय, चञ्चल, काम-लोलुपा, गुरु-भक्ता, मन्त्र-दीक्षा-युक्त, सभी उत्तम लक्षणों से युक्त स्त्री को लाकर पुष्प-शय्या में साधना करे।' श० सं० ता० खं० १४-११-१२।

गुरु-भक्तां जपासक्तां महा-काम-कुतूहलां।
दर्शनान्मोहिनीं साध्वीं कटाक्षादि-प्रमोचनीम् ॥
विकार-परिवर्जिताम् नायिकाष्ट-तुल्य-युक्तां।
क्रोध-मात्सर्य-वर्जिताम्..... ॥
सर्व-दोष-विहीना या सा शक्तिः परिकीर्तिता ॥

'साधना के लिये उत्तम शक्ति (स्त्री) वह है, जो गुरु-भक्त, जपासक्त, महा-काम-कुतूहल से युक्त, सुन्दरी, साध्वी, कटाक्षादि निक्षेप करनेवाली, विकार-रहित कुल-नायिकाष्टक में से कोई, क्रोध-मात्सर्यादि षड्रिपुओं से रहित, सर्व-दोषों से विहीन हो।' श० सं० ता० खं० १५-५,११,१२।

आत्मार्थं वा परार्थं वा पशून् हत्वा पशुर्भवेत् ।
यावन्ति तस्य रोमाणि तावद्योनिमवाप्नुयात् ॥

'अपने लिये या किसी दूसरे के लिये भी पशु-घात करनेवाला पशु ही होता है और जितने उस (पशु) के रोम हैं, उतनी योनियों तक वह पशु ही रहता है।' श० सं० ता० ख० २१-११ ।

आसक्त-लोलुपो दम्भो मन्त्रार्थे त्वप्रसङ्गतः ।
कामुकः काम-निर्देशः पशु-पानं तदुच्यते ॥
सर्वैः कुलोनैः स्थित्वा तु बिना पूजां सुगर्वितैः ।
यत्पानं क्रियते देवि पशु-पानं तदुच्यते ॥
एकाकी मद्य-पानो य एकाकी शक्ति-भुक् प्रिये ।
माहेश्वरस्य संसर्गं न कदापि करोति चेत् ॥
पशु-पानमिदं प्रोक्तं महा-दारिद्र्य-दायकम् ।
बिना मन्त्रं बिना दीक्षां बिना गुरु-मुखात्प्रिये ॥
यत्पानं क्रियते मूर्खैः पशु-पानं विदुर्बुधाः ।

'संसार पर आसक्ति रखनेवाला, लोलुप, दम्भी, बिना प्रसङ्ग मन्त्रार्थ को प्रकट करनेवाला, कामुक, काम-चेष्टा करनेवाला, कौलिकों के सामने बिना पूजा किये गर्वित होकर पान करनेवाला, एकाकी (बिना चक्र-सम्मेलन के) मद्य तथा स्त्री का सेवन करनेवाला, जो पाशवों का कभी संसर्ग नहीं करता, बिना मन्त्र, बिना दीक्षा-युक्त, बिना गुरु की आज्ञा लिये, जो मनुष्य मद्य पीता है, वह पशु-पान करता है। ऐसा मद्य-पान महा-दारिद्र्य-दायक है।'—शं० सं० ता० ख० ३३—१०, ११, १२, १३, १४ ।

नारीं निवीक्ष्य यत्नेन अविकारी नरो यदि ।
विकारे जायमाने तु साधको नश्यति ध्रुवम् ॥
अदीक्षित-कुल-संगात्सिद्धि-हानिः प्रजायते ।
तत्-तथा श्रवणं चेत्स्यात्तत्त्व-गमनं यदि ॥
स कुलीनः कथं देवि स कथं मम पूजकः ।
पर-योषाधिका ज्ञेया निज-स्त्री प्रीति-वर्द्धिनी ॥

'स्त्री को देखकर मनुष्य हृदय में विकार पैदा न होने दे। यदि साधक के हृदय में स्त्री को देखकर विकार उत्पन्न हो, तो साधक का अवश्यमेव नाश होता है। अदीक्षित कुल-वाली (अथवा जो कुल-मार्ग में दीक्षित न हो) स्त्री के साथ सम्भोग करने से सिद्धि-हानि होती है। ऐसी स्त्री के साथ वार्तालाप और सम्भोग करनेवाला कैसे कुलीन और मेरा पूजक है? प्रीति को बढ़ानेवाली स्व-स्त्री पर-स्त्री से उत्तम जाने।'—श० सं० ता० खं० ३५—५, १७, १८, १९ ।

निशा-पूजा प्रकर्त्तव्या हेतु-युक्तः सदैव हि ॥
निजं कुलं समादाय स्वयं भैरव-रूप-धृक् ।
कुलं च भैरवी-रूपं तद्-गात्रे न्यास-विस्तरम् ॥
कुलं शक्तिः समाख्याता तस्याः पूजादि कथ्यते ।
स्त्री-द्वेषो नैव कर्त्तव्यो विशेषात्पूजनं स्त्रियः ॥
स्त्रियं गच्छन् स्पृशन् पश्यन् विशेषात्कुलजां शुभां ।
नारीं सम्पूजयेन्नित्यमुपभोगं न कारयेत् ॥

'रात्रि-पूजा सर्वथा मद्य-युक्त करे और अपनी कुल-दीक्षा-युक्त स्त्री को लावे और स्वयं भैरव-रूप धारण कर उसके सारे शरीर में न्यास करे। स्त्री ही कुल है। उसकी पूजा करनी चाहिये। स्त्रियों से द्वेष न करे। पहले सभी स्त्रियों और विशेष-रीत्या कुल-मार्ग की स्त्री का पूजन करे। स्त्री का यत्न-पूर्वक पूजन करे, उपभोग न करे।" श० सं० ता० खं० ३६—६,२, १८, ५२।

विना पूजां स्त्रियं योनौ संगमे साधकोत्तमः ॥
सप्त-जन्म-दरिद्रत्वं नरके कोटि-कल्पशः ।
ब्रह्म-हत्या सुरा-पानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ॥
एतत्पाप-कृतो दोषो जायते नात्र संशयः ।
वीरो वाऽप्यथवा दिव्यो न बुद्धा नरकं व्रजेत् ॥

'बिना पूजन किये स्त्रियों से सम्भोग करनेवाला सात जन्म तक दरिद्र रहता है और करोड़ कल्प-पर्यन्त नरक में पड़ा रहता है। ब्रह्म-हत्या, सुरा-पान, स्वर्ण-स्तेय, गुरु-तल्प-गमन का पाप उसे लगता है, जो बिना पूजा के सम्भोग करता है। चाहे वह वीर हो चाहे दिव्य, इस कार्य की अवहेलना करने से नरक जाता है।' श० सं० ता० खं० १, २, ३।

वीराणां पुरश्चरणादौ पर-कीयां नारीं दीक्षितां यथा-शक्त्या प्रपूजयेत् ।

पुरश्चरण-काले तु पर-योषां प्रपूजयेत् ॥
दीक्षितां वस्त्र-भूषायै भोज्यैः पायस-सम्भवैः ।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च कुल-सम्भवा ॥
वेश्या नापित-कन्या च रजकी नटकी तथा ।
विशेष-वैदग्ध्य-युताः सर्वा एव कुलाङ्गनाः ॥
अर्थाद्वा कामतो वापि सौख्यादपि च यो नरः ।
लिङ्ग-योनि-रतो मन्त्री रौरवं नरकं व्रजेत् ॥

'वीर को पुरश्चरण-काल में पर-स्त्री का यथा-शक्ति वस्त्र-भूषण, पाय-

सान्नादि से पूजन करना चाहिये। वे ब्राह्मणी, क्षत्राणी, वैश्या, शूद्रा (जो कुल की भूषण हों), वेश्या, नापित-कन्या, रजकी तथा नटकी हों, कारण कि ये सब कुलाङ्गना कहलाती है'—विद्यार्णव श्वास १७। 'अर्थ से, काम से अथवा आत्म-सुख के लिये जो साधक सम्भोग-रत होता है, वह रौरव नरक में पड़ता है।'—विद्यार्णव श्वास १८।

उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से निम्नलिखित बातें सिद्ध होती हैं—

१—वीराचार के अनुसार पञ्च-मकार का सेवन केवल पूजा ही में हो सकता है और वह भी इष्ट-देवता के ध्यान के लिये ही, विषय-भोग के लिये कदापि नहीं।

२—जो स्त्री कुल-मार्ग में दीक्षिता नहीं है और कुल-मार्ग को नहीं जानती, उसके साथ सम्भोग करना पाप है। चाहे वह अपनी वैदिक विधि से विवाहिता स्त्री ही क्यों न हो।

३—जो कुलाचार में दीक्षित न हों, चाहे वे परम स्नेही हों, उनके सङ्ग मद्य मांस का सेवन पाप है।

अब विज्ञ पाठक ही विचार करें कि वीराचार में मद्य, मांस, मैथुन प्रभृति का सेवन संसार के अन्य तमाम आचारों की तुलना में कठिन है कि नहीं। जब उपर्युक्त लम्बे-चौड़े खटराग को कर सके, तभी पञ्च-मकार का सेवन करना उसके लिये सम्भव है। जन-साधारण बिना जाने-बूझे वीरों की निन्दा करते देखे गये हैं परन्तु अपनी अज्ञता के कारण वे यह नहीं समझते कि मद्य-मांस, मैथुनादिक से बचने के लिये एकमात्र शरण वाममार्ग ही है।

❀ ❀ ❀

अब तक तो केवल वीराचार और अन्य आचारों की परस्पर तुलना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि पञ्च-मकार का सेवन किसी-न-किसी प्रकार से सभी धर्मों तथा आचारों में होता है और इनके सेवन के सम्बन्ध में केवल वाममार्ग ही लाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता बल्कि यथार्थ में वाममार्ग ही ऐसा मार्ग है, जिसके अनुसार चलने से पञ्च-मकार- सेवन बिलकुल ही छूट सकता है। परन्तु असली विषय तो यह है कि इन मकारों का प्रयोग किस प्रकार साधक को अष्ट-पाश-विमुक्त करता है?

शास्त्रों के कथनानुसार मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य है 'मोक्ष'। मोक्ष का अर्थ है जीव का संसार के जन्म-मरण, गर्भ-वास के बन्धन से छूट कर परमात्मा को प्राप्त होना। प्रत्येक धर्माचार्य ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के साधन बताये हैं परन्तु सर्व-मान्य मत यह है कि जब तक आप में देहाभिमान है, तब तक आपको मुक्ति नहीं मिल सकती।

यह पहले बताया जा चुका है कि जीव अष्ट-पाशों के बन्धन के ही कारण प्रपञ्च (संसार) में लिप्त है। अन्यथा यह जीव ही स्वयं परमात्मा है। कुलार्णव, नवमोल्लास, श्लोक ४२ में कहा है—

जीवः शिवः, शिवो जीवः, स जीवः केवलः शिवः, पाश-बद्धः स्मृतो जीवः, पाश-मुक्तस्सदाशिवः

अर्थात्—'जीव शिव है, शिव ही जीव है। वह जीव केवल शिव है, भिन्न नहीं। एक वही जब पाश-बद्ध रहता है, तो जीव कहलाता है और पाश-मुक्त होने पर सदाशिव।' श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है—

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म-मायया' गी० ४-६।

अर्थात्—'मैं अपनी माया का अधिष्ठान कर अपनी माया से संसार में उत्पन्न होता हूँ।'

'अहमात्मा गुडाकेश सर्व-भूताशय-स्थितः' गी० १०-२०

अर्थात्—हे अर्जुन! सब प्राणियों में आत्मा (जीव) रूप से मैं ही स्थित हूँ।'

'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् कारणं गुण-सङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु' गी० १३-२१।

अर्थात्—'पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति-जन्य गुणों का भोग करता है। इस (जीव) का भली-बुरी योनियों में बराबर जन्म लेने का कारण गुण-संग (अष्ट-पाशों का बन्धन) है।' श्रीमद्भागवत में कहा है—

'स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्म-मायया, सदसद्-रूपया चासौ गुण-मय्याऽगुणो विभुः ॥३०॥ असौ गुण-मयैर्भावैर्भूत-सूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः स्व-निर्मितेषु निर्विष्टो भुंक्ते भूतेषु तद्-गुणान्। ३३।' स्कं० १, अ० ३;

अर्थात्—'भगवान् स्वयं निर्गुण होने पर भी सदसद्रूपिणी, गुण-मयी, अपनी माया से संसार का सृजन करते हैं और फिर उस माया के विलास-रूप गुणों में स्वयमेव प्रविष्ट होकर उस स्व-निर्मित संसार के प्राणियों के शरीरों में स्थित होकर उस माया के गुणों का भोग करते हैं।' इन अष्ट-पाशों में बँधा होने के कारण जीव अपना शिवत्व भूल गया है और नश्वर पाञ्च-भौतिक शरीर में ही अभिमान कर रहा है। इसलिये नाना प्रकार की आधि-व्याधियों को, बार-बार जन्म लेकर, वह भिन्न-भिन्न योनियों में भोग रहा है।

संसार का प्रत्येक मनुष्य भले प्रकार समझता है कि यह घृणा-लज्जादिक

अष्ट-पाशों का बन्धन, यह देहाभिमान, इस अनित्य प्रपञ्च पर आसक्ति उसको अपने चरम उद्देश्य तक पहुँचने नहीं देते; और इनको छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु समझने पर भी इनको छोड़ नहीं सकता। कहा है-

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जोवितं।
व्यापारैर्बहु-कार्य-भार-गुरुभिः कालो न विज्ञायते॥
दृष्ट्वा जन्म-जरा-विपत्ति-मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते।
पीत्वा मोह-मयीं प्रमाद-मदिरामुन्मत्त-भूतं जगत्॥

अर्थात्—'सूर्य के उदय-अस्त के साथ दिन-दिन जीवन क्षीण हो रहा है। बहुत गुरुतर कार्य-व्यवहारों के भार के कारण समय का कुछ ज्ञान नहीं होता। जन्म, जरा, व्यसन, मरणादिक को नित्य देख रहे हैं परन्तु इससे कोई भय नहीं लगता। यह सारा जगत् प्रमाद की मोह-मयी मदिरा को पीकर उन्मत्त हो गया है।'

कबीर कहते हैं—

आज होरी मैं कहा सँग खेलूँ, दुविधा धूम मचाय रही है।
पांच पचीसन फाग रच्यो है, ममता रङ्ग बनाय रही है॥
कनक कटोरा विषय रस भर भर, तृष्णा मन को लुभाय रही है।
करके सिङ्गार कुमति बैठी है भरम घुँगरू बजाय रही है॥
मताय मताय किये बस अपने, मैं मैं रागिन छाय रही है।
जान बूझकर सुनो भाई साधो, सन्त जना ने पीठ दई है।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, हमरी तो ऐसहि बीत गई है॥

अर्थ स्पष्ट है।

अच्छा, यह तो जान लिया कि ममता, देहाभिमान, संसार की आसक्ति—ये सब बुरे हैं और कैवल्य-लाभ के अर्थ इनका छोड़ना आवश्यक है, परन्तु इनको छोड़ा कैसे जाय? शास्त्रों का उत्तर है—साधना करो।

यह पहले बताया जा चुका है कि शनैः-शनैः क्रमानुसार साधना करने से ही सिद्धि-लाभ होना सम्भव है। इसलिए साधना का आरम्भ पशु-भाव से होगा। पशु ही की तरह ममत्व-पूर्ण रहना पड़ेगा, संसार की वस्तुएँ दो प्रकार की दीखेंगी—'भली' और 'बुरी'। ध्यान, पूजन, साधन करने के लिए एक विशिष्ट अवस्था, स्थान तथा समय की आवश्यकता होगी। स्मृत्यादिक धर्म-ग्रन्थों में कथित विधि-निषेधात्मक आचारों का पालन करना होगा। परन्तु, ध्यान रहे! इन सबसे मोक्ष-लाभ कभी नहीं हो सकता। बल्कि आश्चर्य नहीं, इन विधि-निषेधात्मक आचारों तथा अष्ट-पाशों के फेर में पड़े रहने से धीरे-

धीरे साधक का स्वभाव ही वैसा हो जाय, जिसको बदलना पीछे अत्यन्त कठिन हो सकता है। अँग्रेजी में कहावत है—'habit is second nature' अर्थात् आदत (अभ्यास) दूसरे प्रकार की प्रकृति है। नीति का वचन है—

अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि तिष्ठति।

अर्थात् मनुष्य के सभी गुणों का अतिक्रमण कर उसकी आदत (अभ्यास, स्वभाव) उसके ऊपर प्रबल रहती है। तात्पर्य यह है कि कितना ही गुणवान् व्यक्ति क्यों न हो, यदि उसे किसी प्रकार कोई कुचेष्टा करने की आदत या अभ्यास पड़ गया है, तो उस अभ्यास अथवा आदत के कारण उसके सभी सद्गुण दब जाते हैं।

साधक को नित्य स्नान कर एक विशिष्ट स्थान पर, उसको शुद्ध कर, उपासना करने का अभ्यास हो गया है; परन्तु कभी ऐसा समय आ गया कि उससे स्नान न हो सका या उस स्थान-विशेष में वह किसी प्रतिबन्ध-वश न जा सका या उस स्थान की ठीक प्रकार सफाई न हो सकी; बस, इतना ही होने पर उसकी उपासना रह गई—उसका मन क्षुब्ध हो उठा! वह बैठकर सन्ध्योपासन कर रहा है। इतने में उसका एक मित्र आ पहुँचा। उस मित्र ने मद्य-पान कर रक्खा है; उसके कपड़े अस्त-व्यस्त तथा कै व दस्त से भरे हैं, दुर्गन्ध आती है, मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। उसको देखकर साधक का मन घृणा से भर जाना स्वाभाविक है। उसको उक्त मद्यप से शङ्का तथा भय बना रहेगा कि कहीं वह उसको या उसकी पूजा सामग्री को छूकर अपवित्र न कर डाले। उसको लज्जित भी होना पड़ेगा, जब उसके समाज के लोग यह जानेंगे कि उक्त मद्यप के साथ उसकी मैत्री है। वह साधक उस मद्यप की पीठ पीछे निन्दा भी करेगा और अपने को उससे बहुत उच्च तथा उन्नत समझेगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वह अपने आपको, अपने सिद्धान्त को और अपने कर्म को अच्छा समझता है और उस मद्यप को, उसके सिद्धान्त तथा कर्म को बुरा। साधक में जब तक अच्छा-बुरा समझने की भावना बनी हुई है, तब तक उसमें द्वैत-भाव बना है। उसको प्रत्येक वस्तु में विश्वात्मा का दर्शन नहीं हुआ है। उसके हृदय में किसी वस्तु के प्रति प्रेम और किसी के प्रति घृणा है। वह अष्ट-पाशों से बद्ध है। उसका देहाभिमान गलित नहीं हुआ है। इससे छुटकारा पाने के लिए उसे पशु-भाव की साधना छोड़नी पड़ेगी। अगर वह पशु-भाव की साधना नहीं छोड़ेगा, तो धीरे-धीरे पशु-भाव की साधना उसका स्वभाव हो जायगा और उसमें व्यतिक्रम होने से उसे क्षोभ होगा और उसकी साधना कभी सफल न होगी। सारांश यह कि साधना ऐसी होनी चाहिये, जो भेद-भाव को मिटा दे। वीर-भाव की साधना से ही भेद-भाव मिट सकना सम्भव है।

वीर-भाव की साधना का एकमात्र आधार यही है कि साधक अपने आपमें और अपने इष्टदेव में कोई भेद ही न समझे—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोक-भाक् ।
सच्चिदानन्द-रूपोऽहं नित्य-मुक्त-स्वभाव-वान् ॥

शाक्तों का साधन-मार्ग केवल वीर-भाव ही है । शाक्त के लिए 'अहम्' के अतिरिक्त, सच पूछा जाय तो, कोई मन्त्र ही नहीं है । शाक्त-धर्म का मूल स्रोत ऋग्वेद का देवी-सूक्त है । इसके आठों मन्त्रों में 'अहम्' या 'मैं' का ही प्रयोग है और सारे वैदिक साहित्य में 'अहम्' के प्रयोगवाले (जहाँ तक लेखक को विदित हुआ) यही मन्त्र हैं । शक्ति-वाद तथा वीर-भाव की साधना के इस मूल सिद्धान्त को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शाक्त-साधना का एक-मात्र लक्ष्य शिव तथा जीव का ऐक्य प्राप्त करना है । महात्मा कबीर तथा मध्य-कालीन अन्य सन्तों का भी यही लक्ष्य था । कबीर ने एक स्थल पर कहा है—

तूँ तूँ करता तूँ भया मुझमें रही न हूँ ।
वारी तेरे नाम पर जित देखूँ तित तूँ ॥

इसी प्रकार किसी सन्त ने कहा है—

दर दिवार दरपन भये, जित देखूँ तित तोय ।
काँकर पाथर ठोकरी, रही आरसी होय ॥

तदाकार-वृत्ति की पराकाष्ठा हो गई । अपना मुख भी अपना मुख न रहा । इसी तदाकार-वृत्ति का दिग्दर्शन शृङ्गारी कवि बिहारी ने नायिका की अपने प्रेमी के प्रति तन्मयता में कराया है यथा—

प्रतिबिम्बित आदर्श पुनि मुकुर स्वकर तिय लेत ।
पिय मूरति नैननि निरखि फेरि डारि तेहि देत ॥

नायिका दर्पण उठाती है अपनी सूरत देखने को, वहाँ दीखती है अपने प्रियतम की मूर्ति । तात्पर्य यह है कि तादात्म्य-भाव ऐसा प्रबल होना चाहिये कि स्वयं 'मैं' तथा अपने इष्टदेव में कोई भेद ही न रह जाय । इसी तदाकार-वृत्ति को येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करना वीर-भाव का चरम लक्ष्य है ।

कुलार्णव नवमोल्लास में लिखा है—

देहो देवालयो देवि, जीवो देवः सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञान-निर्माल्यं, सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥४१॥

अर्थात्—'हे देवि, यह देह देवालय है और सदाशिव परमात्मा इसमें

जीव-भाव से विराजमान हैं। अज्ञान-रूप निर्माल्य को दूर कर सोहं-भाव से इसकी पूजा करनी चाहिये।' महात्मा सुन्दरदास ने कहा है--

देह जड़ देवल में आतमा चैतन्य देव,
याही को समुझि कै यासों मन लाइये।
देवल के विनसत बार नहीं लागे कछु,
देव तो अभङ्ग सदा देवल में पाइये॥
देव की भगति करि देवल की पूजा होय,
भोजन विविध भाँति भोगहू लगाइये।
देवल तें न्यारो देव देवल में देखियत,
'सुन्दर' विराजमान और कहाँ जाइये॥

इस 'सोहं'-भाव के पूजन के लिए संसार को भूलना आवश्यक है। इसके लिये मन पर दबाव डालना पड़ेगा। परन्तु मन पार्थिव पञ्च-भूतों के वश में होने से कोरे दबाव से नहीं भूलता। अतएव इसमें किसी पार्थिव वस्तु के प्रयोग से परिवर्तन करना होगा। विद्वानों ने देखा कि मादक वस्तु में वह शक्ति है, जिससे मनुष्य आत्म-विस्मृत हो जाता है। मादक वस्तुओं में सर्वोत्तम मद्य ही पाया गया कारण कि मद्य अन्य मादक वस्तुओं की भाँति मनुष्य में आलस्य नहीं लाता। मद्य-पान से मनुष्य आत्म-विस्मृत तो हो जाता है परन्तु उसकी क्रिया-शक्ति में बाधा नहीं पड़ती बल्कि मद्य के प्रभाव से आलसी मनुष्य भी क्रियाशील हो जाता है। इसके साथ-साथ विद्वानों ने अनुभव से यह भी जाना कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति मद्य की ओर है।

साधारण-से-साधारण गली-गली फिरनेवाले मद्यप को भी आप देखिये, वह घृणा-लज्जादिक से मुक्त रहता है। यह अवस्था यदि विवेक और ज्ञान से पूर्ण हो, तो यही मुक्त अवस्था कहलाती है। शाक्त ऋषियों ने इन अवस्थाओं का बारीकी से अध्ययन किया और मद्य को साधना की सामग्री बना कर मनुष्य-समाज को दोहरा फायदा पहुँचाया--

(१) एक तो मद्य-पान को बहुत ही नियन्त्रित कर दिया, जिससे जन-साधारण को हानि न पहुँचे।

(२) दूसरे उन साधकों को अष्ट-पाश-विमुक्त होने की औषधि बता दी, जो केवल मानसिक बल के ही सहारे इन पाशों से छूटने में असमर्थ थे।

हम पहले लिख चुके हैं कि शाक्त-धर्म के अनुसार पञ्च-मकार केवल उपासना की ही सामग्री है। वामाचारी उपासना के अतिरिक्त अन्य समय में इनका उपयोग नहीं कर सकता। वह उपासना करने ही के लिए मद्य का प्रयोग

करता है क्योंकि मद्य-पान करने से वह आत्म-विस्मृत--लोक-चिन्ता-रहित हो जाता है और जिस किसी विचार अथवा वस्तु पर वह ध्यान जमाता है, उस पर उसका ध्यान केन्द्रित हो जाता है। मद्य के उत्कट उत्तेजक पदार्थ होने के कारण मांस, मत्स्य, मुद्रा का इसके साथ प्रयोग किया जाता है और इसको चर्वण कहते हैं। कुलार्णव में कहा है कि 'चर्वणेन विना पानं केवलं विष-भक्षणम्' अर्थात् बिना चर्वण के मद्य पीना विष-भक्षण है। यदि बिना पौष्टिक भोजन के मद्य का सेवन किया जायगा, तो मनुष्य मर जायगा। मत्स्य-मांस से मद्य का विष शान्त होता है और यदि उचित मात्रा में मद्य के साथ मांसादि का सेवन किया जाय, तो शक्ति-हीन मनुष्य भी बलवान् तथा तेजस्वी हो जाता है। डाक्टर लोग प्रायः रोग की निर्बलता में और विशेष-तया क्षय-रोगियों को नियमित मात्रा में ब्रांडी (एक प्रकार की मद्य) तथा अंडे और मांस-रस का सेवन कराते हैं। 'स्त्री' का उपयोग साधना में इसलिये किया जाता है कि उपासना का सबसे बड़ा विघ्न स्त्री ही है। अतएव यह आवश्यक है कि उस विघ्न पर विजय प्राप्त की जाय। विघ्न से दूर रहना विघ्न पर विजय प्राप्त करना नहीं है।

इसके अतिरिक्त ये पञ्च-मकार प्राकृतिक धर्म के अनुसार मनुष्य को प्रिय हैं। यह पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है। इसलिये इनका त्याग करना कष्ट-कारक होने से उचित नहीं कहा जा सकता। स्वभावतः ये वस्तुयें मनुष्य के अनुकूल हैं और नित्य के व्यवहार में भी मद्य को छोड़ शेष अन्य चार मकार प्रकृति के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। बिना मैथून के सृष्टि-क्रम चल नहीं सकता, मुद्रा सभी का भोज्य पदार्थ है। इसी प्रकार मांस-मत्स्य भी बहुसंख्यकों का भोजन है। यह कहना यथार्थ होगा कि स्पष्ट या अस्पष्ट-रूप में सारा संसार ही आमिष-भोजी है। फिर इनका त्याग क्यों किया जाय? क्यों न प्रवृत्तियों के अनुकूल चलते हुए इनको साधना का उपकरण बना दिया जाय? जब ये वस्तुयें परमात्मा ने ही बनाई हैं, तो इनको बुरा, निन्दित या त्याज्य बताकर क्या हम अपने नियंता का अपमान नहीं करते? क्यों न हम इन वस्तुओं को भी अन्य वस्तुओं की भाँति परमात्मा को अर्पित करें? क्यों न अपने सारे जीवन के कार्य-क्रम को ही साधना का रूप दे दिया जाय? कहा भी है--

जपो जल्पः शिल्पं किमपि मणि-मुद्रा-विरचनम्।
गतिः प्रादक्षिण्यं क्रमणमशनाद्य-हुति-विधिः॥
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पण दशा।
सपर्य्या-पर्य्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥

(सौन्दर्यलहरी)

अर्थात्—हे मातः, जो कुछ भी मैं बोलता हूँ (चाहे वह अनर्गल प्रलाप ही क्यों न हो), वह सब तेरे नाम का जप है। जो कुछ मेरा शिल्प (हाथों से किया हुआ कर्म—चाहे वह लौकिक दृष्टि में जघन्य-से-जघन्य पाप ही क्यों न हो) है, वही तेरे अर्थ पूजा में प्रदर्शित विभिन्न मुद्राएँ हैं। मेरा पाद-संचार सब तेरी प्रदक्षिणा है। मेरा खाना-चबाना सब तेरे नाम का होम है। मेरा लेट जाना ही तेरा प्रणाम है। मेरे सर्व शारीरिक सुख ही मेरी तेरे प्रति आत्म-निवेदन की दशा है। इस प्रकार हे माता, इस संसार-क्षेत्र में जो कुछ मेरे कार्य-कलाप हैं, वह सब तेरी ही सपर्य्या है।

इन्हीं सब बातों को अनुभव कर प्राचीन महर्षि-गण इस निष्कर्ष पर आये कि वीर-भाव की उपासना के बिना सिद्धि नहीं मिल सकती क्योंकि प्रत्यक्ष है कि संसार की प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक कार्य भावना-प्रधान है। अंग्रेजी में एक कहावत है—nothing is good or bad in this world, but thinking makes it so' अर्थात् ससार में कोई भी वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है परन्तु हमारा विचार ही उसको अच्छा या बुरा बनाता है। ज्ञानार्णव तन्त्र के २२ वें पटल में कहा है—

धर्माधर्म-परिज्ञानात् सकलेऽपि पवित्रता।
विष्ठा-मूत्रं स्त्री-रजो वाऽपि नखास्थि-सकलं प्रिये॥
विचारयेन् मन्त्र-वित्तु पवित्राण्येव सुव्रते।
अन्नं ब्रह्म विजानीयात्तेन यस्य समुद्भवः॥
नाना-जीवाश्रयं तत्तु पुरीषं केन निन्द्यते।
नाना-विधा हि देवेशि देवता सलिल-स्थिताः॥
तेनोदकेन यज्जातं मूत्रं कस्मात्तु दूषयेत्।
गो-मूत्र-प्राशनं देवि गोमयस्यापि भक्षणम्॥
प्रायश्चित्ते तु कथितं ब्रह्म-हत्यादिके प्रिये।
मले मूत्रे कथं दोषो भ्रान्तिरत्र न संशयः॥
स्त्री-रजः परमेशानि देहस्तेनैव जायते।
कथं दूषणं येन प्राप्यते परमं पदम॥
पुरुषस्य तु यद्वीर्यं विन्दुरित्यभिधीयते।
विन्दुस्तु परमेशानि कायोऽयं शिव-रूपकः॥
शिव-तत्त्वेन चास्थ्यादि-दूषणं नास्ति वैन्दवे।
रेतः पवित्रं देहस्य कारणं केन निन्द्यते॥
ज्ञान-मार्गोऽयं सकलो निर्विकल्पस्य सुन्दरि।
सविकल्पो महेशानि पाप-भाग् जायते नरः॥

मातृ-गर्भाद्विनिर्गत्य शिशुरेव न संशयः ।
इन्द्रियाण्यखिलान्यस्य देहस्थान्यपि वल्लभे ॥
निर्विकारतया तत्र नान्यथा भवति प्रिये ।
भग-लिङ्ग-समायोगो जन्म-काले सदा भवेत् ॥
काम्यते सा यदा देवि जायते गुरु-तल्पगः ।
अतएव यदा यस्य वासना कुत्सिता भवेत् ॥
तत्तद्-दूषणं संयुक्तमन्यत् सर्वं शुभं भवेत् ।
पवित्रं सकलं भद्रे वासना कलुषा स्मृता ॥

अर्थात्--धर्माधर्म का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर सभी वस्तुयें पवित्र हो जाती हैं। विष्ठा, मूत्र, स्त्री-रज, नख, अस्थि-- ये सब मन्त्र-वेत्ता के विचार में पवित्र हैं। अन्न को सभी ब्रह्म करके जानते हैं। उस अन्न से जो उत्पन्न हुआ है, नाना प्रकार के जीव (कृमि प्रभृति) जिसमें आश्रय पाते हैं, वह 'पुरीष' क्योंकर निन्दनीय हो सकता है ? हे देवेशि, जल में नाना-विध देवताओं का निवास है, उस जल से मूत्र पैदा हुआ है, तो मूत्र क्यों दूषित बताया जाता है ? गो-मूत्र का पान तथा गो-मय का भक्षण ब्रह्म-हत्यादिक पापों के प्रायश्चित में बतलाया गया है। अब ऐसी दशा में मल-मूत्र में क्या दोष ?--तात्पर्य यह कि जब गाय के मल-मूत्र का सेवन महा-पातकों को भी पवित्र कर सकता है, तो उसे अपवित्र मानने में भ्रांति के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है ! हे परमेशानि स्त्री-रज वह वस्तु है, जिससे मनुष्य-देह उत्पन्न होती है और इसी मनुष्य-देह से परम-पद की प्राप्ति होती है, तो फिर स्त्री-रज से घृणा क्यों ? पुं-वीर्य 'विन्दु' कहलाता है और वही विन्दु यह शिव-रूपी शरीर है। इसी शरीर की अस्थियाँ इत्यादि (सप्त धातु) हैं, जो बिन्दु-सम्भूत होने से शिव-तत्व हैं। इसलिये ये दूषित हो ही नहीं सकतीं। 'रेतस्' इस देह का कारण होने से निस्सन्देह पवित्र है। फिर इससे घृणा क्यों की जाती है ?

परन्तु हे सुन्दरी, यह सब जो कुछ बताया गया है, निर्विकल्प साधक का ज्ञान-मार्ग है। हे महेशानि, यदि साधक स-विकल्प है (यानी उसमें भेद-बुद्धि है), तो उपर्युक्त वस्तुओं का प्रयोग कर वह पाप का भागी होता है, जैसे शिशु जब मातृ-गर्भ से बाहर निकलता है, तब उसके सभी अवयवों का संसर्ग मातृ-योनि से होने के कारण उसका अपनी माता के साथ उस समय भग-लिंग-संयोग होना स्वाभाविक है; परन्तु वह उस समय निर्विकार होने से पापी नहीं कहलाता। अब यदि वह (बड़ा होने पर) काम-वासना पूर्ण होकर अपनी माता के साथ कुचेष्टा करे, तो उसे गुरु-तल्प-गमन का पाप लगेगा। उस समय उसकी यह दलील नहीं चल सकती कि मैं पैदा होने पर माता की ही योनि से तो

निकला हूँ और निकलते वक्त योनि-स्पर्श हुआ ही है। अतएव हे भद्रे, दोष तभी है, जब वासना कलुषित हो। सब कुछ ठीक है, केवल वासना बुरी है।'

इस वासना को ही मारने के अर्थ वीर-भाव से साधना करना आवश्यक हो जाता है। जब कोई बात आपके नित्य के कार्यों में होने लगती है, तब आपको उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता। यही बात इन पञ्च-मकारों पर भी लागू होती है। मांस-मत्स्य रजोगुण-प्रधान भोजन है। जिसने इनका कभी सेवन नहीं किया, उसे इनका कभी-न-कभी सेवन करने से गर्मी अवश्य चढ़ेगी, परन्तु जिसका यह नित्य का भोजन है, उसकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता। क्या मांसाहारी वर्ग के मनुष्यों में सत्व-गुण-विशिष्ट लोग नहीं होते? इसी प्रकार नित्य मद्य पीनेवाले के नित्य के कार्यों में कोई बाधा नहीं पड़ती। कभी-न-कभी नग्न व अर्ध-नग्न स्त्री को देखने पर आपके हृदय में विकार पैदा हो सकता है, परन्तु यदि आप नित्य ऐसा देखने के आदी हो गए हैं, तो आपके हृदय में विकार नहीं उठेगा। अब इस दृष्टि से वीराचार की साधना को देखिये। पञ्च-मकार का नित्य प्रयोग करने से आपने इनकी असाधारणता को कम कर ही दिया, अब धीरे-धीरे इनका प्रयोग करते हुए आपने साधना भी आरम्भ कर दी और जगदम्बा के चरणों में मन लगाया। पहले वासना प्रबल रहेगी ही, फिर धीरे-धीरे निर्बल होते-होते एक दिन वह पूर्ण-रीत्या नष्ट हो जायगी।

वीर-भाव की साधना में साधक क्रियात्मक रूप में कर्म-फल-त्याग, अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या इत्यादि सिद्धान्तों का अभ्यास करता है और गीता के भगवद्-वाक्यों—

मन्मना भव मद्-भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्व-वित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यषि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

को प्रत्यक्ष-रूपेण सिद्ध कर बतला देता है। देखिये, वीराचार के पूजन में तत्त्व-शुद्धि। यथा—

'सुरा-पूरित-पात्रं वाम-करे आदाय—'ब्रह्माण्ड-मण्डलाकारं पात्रं नौमि सुधा-मयं सुधया पूरितं साक्षादार्युवित्तं प्रयच्छ मे ॐ ह्रीं

श्रीं भगवति महलक्ष्मि सुर-पर-धामानमूर्ध्वं-शून्यमधः शून्य-प्रकाश-नाप्रकाश-भक्षिणि सोम-सूर्याग्नि-भक्षिणि आगच्छ आगच्छ विश विश फट्', इति दक्ष-करे शुद्धि-खण्डमादाय 'ऐं प्रकृत्यहङ्कार-बुद्धि-मनः श्रोत्र-त्वक्चक्षु-जिह्वा-घ्राण-वाक्पाणि-पाद-पायूपस्थ-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधाकाश-वाय्वग्नि-सलिल-भूभ्यात्मने अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः आत्म-तत्त्वयात्म-तत्त्वात्मने विश्व-रूपाय विश्व-रूपात्मने सरस्वती हिरण्य-गर्भ-सहिताय सरस्वती हिरण्य-गर्भ सहितात्मने आणव-मल-शुध्यर्थं स्थूल-देहमाधारे आत्म-तत्त्वेन शोधयामि—

नाभि-चैतन्य-रूपादौ हविषा मनसा स्रुचा,
ज्ञान-प्रदीपिते नित्यमक्ष-वृत्तिर्जुहोम्यहम् ।
ऐं आत्म-तत्त्वेन स्थूल-देहं शोधयामि नमः स्वाहा ।।

क्लीं माया-कला-विद्या-राग-काल-नियति-पुरुषात्मने कं···मं विद्या-तत्त्वात्मने तैजस-पुरुषाय तैजस-पुरुषात्मने लक्ष्मी-नारायण-सहिताय लक्ष्मी-नारायण-सहितात्मने कार्मिक-मल-शोधनार्थं सूक्ष्म-देहं हृदये विद्या-तत्त्वेन शोधयामि—

धर्माधर्म-हविर्दीप्ते स्वात्माग्नौ मनसा स्रुचा,
सुषुम्णा-वर्त्मना नित्यमक्षवृत्तिर्जुहोम्यहम् ।
क्लीं विद्या-तत्त्वेन सूक्ष्म-देहं शोधयामि नमः स्वाहा ।।

सौः शिव-शक्ति-सदाशिवेश्वर-शुद्ध-विद्यात्मने यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं शिव-तत्त्वाय शिव-तत्त्वात्मने प्राज्ञ-पुरुषाय प्राज्ञ-पुरुषात्मने विद्या-शंकर-सहिताय-विद्या-शंकर-सहितात्मने मायिक-मल-शोधनार्थं कारण-देहं शिरसि शिव-तत्त्वेन शोधयामि—

प्रकाशाकाश हस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनी स्रुचा,
धर्माधर्म-कला-स्नेह-पूर्णमग्नौ जुहोम्यहम् ।
सौः शिव-तत्त्वेन कारण-देहं शोधयामि मनः स्वाहा ।

ऐं क्लीं सौः प्रकृत्यहंकारादि-षट्-त्रिंशत्तत्त्वात्मने अं आं·····हं लं क्षं सर्व-तत्त्वाय सर्व-तत्त्वात्मने विश्व-तैजस-प्रज्ञा-पुरुषाय विश्व-तैजस-प्रज्ञा-पुरुषात्मने आणव-कार्मिक-मायिक-मल-शोधनार्थं स्थूल-सूक्ष्म-कारण-महा-कारण-देहं सर्वांगे जीव-परमात्मनोरैक्येन शोधयाम्यमृतं जुहोमि स्वाहा—

अहन्ता पात्र-भरितमिदन्ता परामृतम्,
परा-हन्ता-मये वह्नौ जुहोमि शिव-रूपतः ।

ऐं क्लीं सौः सर्वतत्वं शोधयामि नमः स्वाहा ।

ततो मूलाधारे अनादि-वासनेंधन-ज्वलिते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा कुण्डलिन्यधिष्ठितं चिदग्नि ध्यात्वा, मूलं हंसः चिदग्नि-मण्डलाय नमः इति मनसा संपूज्य, मूलं, पुण्यं जुहोमि स्वाहा, पापं कृत्यमकृत्यं संकल्पं धर्मं अधर्मं स्वाहा, मूलं हंसः, इतः पूर्वं प्राण-बुद्धि-देह-धर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं परम-शिव-गुरु-देवतायै समर्पितमस्तु स्वाहा—

अन्तर-निरन्तर-निरिंधन-मेधमाने,
मोहान्धकार-परिपन्थिनि संविदग्नौ ।
कस्मिंश्चिदद्भुत मरोचि-विकास-भूमौ,
विश्वं जुहोमि वसुधादि-शिवावसानम् ।।

उपर्युक्त तत्त्व-शुद्धि के क्रम को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि वीराचार की साधना का केवल मात्र उद्देश्य 'जीव-परमात्मनोरैक्य' है और इसी की प्राप्ति के लिए पञ्च-मकार का प्रयोग पूजन में किया जाता है और यह उद्देश्य-प्राप्ति पञ्च-मकार के प्रयोग से हो जाती है, इस बात पर पर्याप्त दलील की जा चुकी है । जिस किसी साधक को सन्तोष न हो, उसे चाहिये कि किसी सद्गुरु की शरण जाकर साधना करके देखे, तो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल जायगा और यथार्थ बात तो तभी समझ में आ सकती है, जब स्वयं अभ्यास करके देखा जाय क्योंकि वाम-मार्ग साधना का मार्ग होने से बिना क्रियात्मक प्रयोग के समझ में आना कठिन है । इसीलिए शास्त्रों ने आज्ञा दी है कि वाम-मार्ग के विषय में पशुओं के सम्मुख चर्चा नहीं करनी चाहिये ।

जहाँ तक साधना का सवाल है, उसको अलग रखते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि वीराचार ही एक ऐसा मार्ग है, जिसने भोग-मार्ग और मोक्ष-मार्ग को इकट्ठा करके यह सिद्ध कर दिया है कि संसार का आनन्द भोग करते हुए भी सरलता से मोक्ष मिल सकता है—

दर्शनेषु च सर्वेषु चिराभ्यासेन मानवाः ।
मोक्षं लभन्ते कौलेषु सद्य एव न संशयः ।।
योगी चेन्नैव भोगी स्याद्भोगी चेन्नैव योग-वित् ।
भोग-योगात्मकं तस्मात्सर्वाधिकं प्रिये ।।
भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते ।
मोक्षायते च संसारः कुल-धर्मे कुलेश्वरि ।।

कुलार्णव २—२१,२३,२४ ।

अर्थात्—सभी शास्त्रों में तो मनुष्य बड़े लम्बे समय के अभ्यास के बाद मोक्ष लाभ करता है परन्तु कुल-शास्त्र में (थोड़े ही अभ्यास से) शीघ्र ही मोक्ष मिल जाता है। योगी भोगी नहीं हो सकता और भोगी योग का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु कौल-मार्ग में भोग और योग दोनों हैं। इसलिये वह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। कुल-धर्म में साधना करने से सांसारिक भोग ही योग हो जाता है, धर्मशास्त्रों में वर्णित पाप ही पुण्य हो जाता है और यह संसार और इसकी आसक्ति ही साधक के लिये मोक्ष हो जाती है।

इस प्रकार वीर-भाव की साधना करने से साधक के अष्ट-पाश कट जाते हैं और उसका मन वासनाओं से मुक्त हो जाता है। फिर उसे स्थूल पञ्च-मकार की आवश्यकता नहीं पड़ती और न उसे इनकी इच्छा ही होती है; साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता हुआ साधना के सर्वोच्च सोपान दिव्य-भाव को प्राप्त होता है।

❀ ❀ ❀

पिछले प्रकरणों में बताया जा चुका है कि साधना का ध्येय क्या है और उस ध्येय की प्राप्ति के अर्थ किस प्रकार आपको सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़कर साधना करनी चाहिये। पशु-भाव की साधना से आपने अपने शरीर को दृढ़ बना लिया, मन को एक इष्ट पर केन्द्रित कर लिया और वीर-भाव की साधना से आपने भेद-भाव को मिटा डाला है। अब आपको संसार की किसी वस्तु से घृणा नहीं है; किसी से भय, लज्जा अथवा शङ्का नहीं है। आपकी जुगुप्सा नष्ट हो गई है। आपमें कुल, शील तथा जाति की भावना नहीं रह गई है। आप सम-दर्शी हो गये हैं। आप पर गीता में कथित पंडित के पूरे लक्षण दीखने लगे हैं—

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः सम-दर्शिनः॥

आपको अब पूजोपचार में किसी भी वस्तु तथा स्थान से घृणा नहीं होती। कर्पूर-स्तव-राज में लिखा है—

समन्तादापीन-स्तन-जघन-धृग्यौवन-वतीम्।
रतासक्तो नक्तं यदि जपति भक्तस्तव मनुम्॥
विवासास्त्वां ध्यायन् गलित-चिकुरस्तस्य वशगाः।
समस्ताः सिद्धौघा भुवि चिरतरं जीवति कविः॥

अर्थात् "हे जगदम्ब! यदि तेरा भक्त पीन-स्तन जघनोंवाली पूर्ण युवती के साथ सुरतासक्त होकर मुक्त-केश दिगम्बर रहकर निशीथ-काल में तेरे मन्त्र का जप करे, तो समस्त सिद्ध-गण उसके वशीभूत हो जाते हैं और वह प्रकाण्ड

पंडित होकर चिर-काल तक जीवित रहता है।''

विचार कीजिये, कितनी उत्कृष्ट साधना है। युवती स्त्री के साथ रहते हुये अपने इष्ट-देव के मन्त्र-साधन में लगा रहना कितने जबर्दस्त मनः-संयम का काम है। यदि आप निरन्तर अभ्यास करें, तो उपर्युक्त दुःसाध्य साधना अत्यन्त सुगम हो सकती है।

बचपन में गुरु-मुख से एक कथा सुनी थी। उस कथा के उदाहरण से उपर्युक्त साधना का रहस्य स्पष्ट समझ में आ जाता है। कथा इस प्रकार है—

किसी नगर का राजा बड़ा विषयी था। उसको विषय से कभी तृप्ति नहीं होती थी। उसने अपनी उत्कट विषय-लालसा को पूर्ण करने के निमित्त संसार के कोने-कोने से ढूँढ़-ढूँढ़कर भिन्न-भिन्न देशों, जातियों तथा वर्णों की युवती स्त्रियाँ अपने पास इकट्ठी कर रक्खी थीं। इस काम के लिये उसने चर नियुक्त कर रक्खे थे, जिनका काम उसके लिये नित्य नई-नई सुन्दरियों को फाँस लाना था। जब तक उस राजा की जवानी रही, उसने खूब उपभोग किया। जवानी ढलने पर उसकी शक्ति क्षीण हो गई, इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। परन्तु शक्ति ज्यों-ज्यों क्षीण होती गई, त्यों-त्यों उसकी काम-लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। उसने अपनी शक्ति बढ़ाने के उपचार किये, संसार भर के वैद्यों और चिकित्सकों की औषधियों का सेवन किया। कुछ काल तक उसका काम दवाइयों से चलता रहा। फिर अन्त में औषधियों की भी कुछ न चली। आखिर औषधियाँ भी कहाँ तक काम करतीं! प्रकृति को अपना काम करना ही था। कुछ अवस्था के कारण और कुछ अत्यन्त विषयासक्ति के कारण उसका पौरुष एकदम नष्ट हो गया, परन्तु उसकी विषय-तृष्णा तब भी नहीं मिटी। अब उसने जोगी-जङ्गमों की ढूँढ़ की—इस आशा में कि कदाचित् उसे किसी महात्मा से कोई जड़ी या कोई मन्त्र प्राप्त हो जाय, जिससे उसकी जवानी कभी क्षीण न हो। उसको जहाँ कहीं किसी साधु-संन्यासी या चमत्कारी पुरुष के होने का समाचार मिलता, वह वहीं उसके पास पहुँच जाता और अपनी इच्छा-पूर्ति की उससे प्रार्थना करता। इस प्रकार बहुत समय बीत गया किन्तु कोई भी साधु-संन्यासी उसको ऐसा नहीं मिला, जो उसकी इच्छा पूरी करता।

एक दिन उस राजा के चरों ने उसको समाचार दिया कि उसके नगर के बाहर एक निर्जन स्थान में एक सिद्ध महात्मा ने कुछ दिन से स्थान जमा रक्खा है। वह न कुछ खाता है, न पहनता है और न कहीं जाता है। पानी तक नहीं पीता। कई एक दिन से एक ही स्थान पर एक ही आसन पर बैठा है, बड़ा चमत्कारी सिद्ध ज्ञात होता है। उसके चमत्कारों से सारी जनता

चकित है—इत्यादि। राजा यह सुनकर शीघ्र ही उक्त महात्मा के समीप नाना प्रकार के उपहार लेकर उपस्थित हुआ परन्तु उस सिद्ध ने राजा तथा उसके उपहारों पर दृष्टि-पात नहीं किया। जब बहुत विलम्ब हुआ, तो राजा निराश होकर अपने महल में लौट आया। फिर दूसरे दिन और भी अधिक उपहार-सामग्री लेकर राजा उस सिद्ध के पास गया। वहाँ जाकर देखता क्या है कि वह उपहार-सामग्री ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है और सिद्ध अपनी उसी पहले दिनवाली निश्चिन्त मुद्रा में स्थित है। राजा यह देखकर अत्यन्त ही प्रभावित हुआ और सिद्ध के पैरों पर गिर कर फूट-फूट कर रोने लगा। राजा की इस चेष्टा से सिद्ध का ध्यान भङ्ग हुआ और उसने राजा की व्याकुलता का कारण पूछा। उत्तर में राजा का इति-वृत्त सुनकर सिद्ध मौन हो गया और जब सन्ध्या होने पर राजा अपने नगर में जाने को उद्यत हुआ, तब सिद्ध ने अपनी झोली में से तीन गोलियाँ निकालीं। दो स्वयं खाईं और राजा को एक गोली खिलाकर बिदा करते हुये कहा कि 'राजन्! अपने महल में जाकर यथेच्छ उपभोग करो।'

राजा ने उस रात्रि को अपने शरीर में ऐसी स्फूर्ति पाई, जैसी उसने अपनी पूर्ण युवावस्था में भी नहीं पाई थी। उसने सारी रात खूब भोग-विलास किया। दूसरे दिन उसको कोई दुर्बलता या आलस्य भी नहीं हुआ। दिन भर अपना राज-कार्य कर राजा संध्या-समय सिद्ध के समीप फिर उपस्थित हुआ। सिद्ध ने फिर पूर्ववत् दो गोलियाँ स्वयं खाकर एक राजा को खिलाई और राजा ने भी पिछली रात्रि की तरह खूब आनन्दोपभोग किया। इसी प्रकार राजा का नित्य का कार्यक्रम चलता रहा। गोलियों में आश्चर्यमयी शक्ति थी।

इस प्रकार कुछ काल बीत जाने पर राजा के मन में जिज्ञासा उठी कि 'मैं तो एक गोली नित्य खाता हूँ, उसी में इतनी शक्ति तथा चमत्कार का अनुभव करता हूँ। यह सिद्ध तो दो गोलियाँ नित्य खाता है। इसका क्या हाल होता होगा? इसका भी जरूर कहीं किसी स्त्री से सम्बन्ध होगा।' ऐसा सन्देह होने पर राजा ने सिद्ध के निवास-स्थान के चारों तरफ गुप्त पहरा बैठा दिया। इसी प्रकार दिन और महीने बीत चले, परन्तु सिद्ध अपने स्थान से हिला तक नहीं। अब राजा ने एक दिन स्वयं ही सिद्ध से पूछा कि 'महाराज, मुझको तो एक ही गोली खाने से इतनी मस्ती आती है, परन्तु आप दो गोली खाकर भी निर्विकार रहते हैं, इसका क्या रहस्य है, मुझे बताइये?' सिद्ध ने कहा कि 'राजन्! तुम्हें फकीरों के रहस्य जानने से क्या प्रयोजन? तुम अपनी एक गोली खाते जाओ और इच्छित आनन्द लूटो।' राजा ने फिर भी अपनी

जिज्ञासा जारी रक्खी। सिद्ध ने राजा के बहुत आग्रह करने पर उत्तर दिया 'अच्छी बात है, समय आने पर बता देंगे।' सिद्ध के इस टालमटोल उत्तर को सुनकर राजा की जिज्ञासा और प्रबल हो उठी। अब राजा का नित्य-प्रति सिद्ध से पूछने का धन्धा ही हो गया। जब सिद्ध ने राजा की अत्यन्त बलवती जिज्ञासा देखी, तो राजा से कहा कि 'मैं तेरी जन्म-पत्री बना कर तेरी परमायु का निर्णय करता हूँ।' कुंडली तैयार कर सिद्ध राजा को दिखाने के लिये झूठ-मूठ ही गणना करने लगा और गणना करते-करते चौंककर उसने राजा से कहा कि 'राजन्! आपकी आयु पूर्ण हो गई है। आप केवल रात्रि भर जीवित रहेंगे। कल प्रातः सूर्योदय होते ही आपकी मृत्यु हो जायगी।' ऐसा कहकर सिद्ध ने झोली से निकालकर राजा को आठ गोलियाँ खिलाईं और राजा से कहा कि 'आज तुम्हारे जीवन की अन्तिम रात्रि है। अतएव अठ-गुनी मात्रा लेकर आज तुम खूब छककर अपनी इच्छा की पूर्ति करो क्योंकि कल सूर्योदय पर ही तुम मर जाओगे।'

राजा ने गोलियाँ खा लीं, परन्तु उसके हृदय में मौत का डर ऐसा बैठ गया कि जब वह अपने महल मे लौटा और नित्य के अनुसार उसकी प्रेयसियों ने उसे घेर कर उसे आकर्षित करने का प्रयत्न किया, तब आठ गोलियों का जोर होने पर भी उसकी तबियत जरा भी नहीं बदली। सुन्दरियों ने उसे तेज-से-तेज शराब पिलाई, परन्तु उसे नशा नहीं हुआ। उन सुन्दरियों को बहलाने के लिये उनसे मामूली बातचीत कर लेता था। घड़ियाल का शब्द सुनते ही समय पूछने को नौकरों को दौड़ाता था। इस प्रकार हाय-हाय में रात्रि व्यतीत हुई। राजा पर डर की मुर्दनी छा गई। उसने अपने मन्त्रियों तथा परिवार को बुलाकर सारा वृत्तांत सुनाया और सूर्योदय से पहले अपने राज्य के भविष्य का प्रबन्ध व दान-पुण्य उसने किया। अब सूर्योदय हुआ। राजा डर के मारे मृत-वत् हो गया। परिवार रोने-पीटने लगा, परन्तु राजा नहीं मरा। प्रथम प्रहर गया, द्वितीय गया, तृतीय गया, चतुर्थ गया, सन्ध्या हुई, राजा नहीं मरा। राजा क्रोधित होकर सिद्ध के पास गया और उसकी प्रतारणा करने लगा कि 'तैने झूठ-मूठ ही आज सूर्योदय के समय मेरी मौत बताई।' सिद्ध ने उत्तर दिया, 'राजन्! तुम्हारी पूर्व-जिज्ञासा के उत्तर में मैंने यह जाल रचा। तुमने पूछा था कि मुझे एक ही गोली खाकर इतनी मस्ती क्यों होती है और तुम्हें दो गोली खाकर भी कुछ नहीं होता। तुम्हें कल रात्रि के उदाहरण से इसका उत्तर भली प्रकार मिल गया है। कल तो तुमने आठ गोलियाँ खाईं, परन्तु मृत्यु की विभीषिका ने तुम्हारी सारी मस्ती हवा कर दी। मुझे तो प्रतिक्षण वही डर बना रहता है; तुम्हें केवल कल की रात

पैदा हुआ, तो मुझ पर कैसे मस्ती चढ़ सकती है ?'

इस उदाहरण पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि कर्पूर-स्तव-राज के उपर्युक्त श्लोक में बताई हुई साधना असम्भव नहीं है। उपर्युक्त कहानी के राजा को विषय-विरक्ति अज्ञात-भाव से हुई है और सिद्ध की विरक्ति ज्ञात भाव से थी। इससे स्पष्ट हो गया कि विषयासक्ति केवल मन का कार्य है, शरीर का नहीं। 'रसखान' कवि ने इस भावना को एक बड़े अच्छे उदाहरण से व्यक्त किया है—

'सुनिये सबकी कहिये न कछू रहिये इमि या भव बागर में।
करिये व्रत नेम सचाह लिये जिनतें तरिये भव सागर में ॥
सब सों मिलिये दुरभाव बिना रहिये सतसङ्ग उजागर में।
'रसखान' गोविन्दहिं यों भजिये जिमि नागरि को चित गागर में ॥'

कितना उत्तम उदाहरण है आपके नित्य के जीवन का। स्त्री पनघट से पानी की गागर लिये—भरी हुई गागर सिर पर रक्खे घर को आती है। रास्ते में संगिनियों के साथ अपने घर की, गाँव की, दुःख-सुख की बातें करती चलती है। किसी संगिनी के साथ उसका अत्यन्त क्रोध-पूर्ण वाक्-युद्ध भी चल रहा है। बोलते-बोलते वह हाथ मटकाती है, सिर हिलाती है परन्तु क्या मजाल कि उसके सिर पर रक्खी हुई गागर गिर जाय। इन सब कामों में लगे रहने पर भी उसका चित्त अपने सिर की गागर पर लगा हुआ है।

इसी प्रकार क्या आप संसार के तमाम काम नहीं कर सकते ? यदि आप सच्ची इच्छा करें, तो अवश्य कर सकते हैं। फिर आगे चलकर कर्पूर-स्तव-राज में लिखा है—

'श्मशानस्थः सुस्थो गलित-चिकुरो दिक्-पट-धरः,
सहस्रं त्वर्काणां निज-गलित-वीर्येण कुसुमम्।
जपँस्त्वत्प्रत्येकं मनुमपि तव ध्यान-निरतो,
महाकालि स्वैरं स भवति धरित्री-परिवृढः ॥
गृहे सम्मार्जिन्या परिगलित-वीर्यं हि चिकुरम्,
समूलं मध्याह्ने वितरति चितायां कुज-दिने।
समुच्चार्य प्रेम्णा मनुमपि सकृत्कालि सततम्,
गजारूढो याति क्षिति-परिवृढः सत्कविवरः ॥

अर्थात्—'हे महाकालि ! जो साधक स्थिर-चित्त श्मशान में स्थित होकर मुक्त-केश दिगम्बर अवस्था में अपने स्खलित वीर्य से लिप्त किये हुए आक के सहस्र पुष्पों का, तेरा ध्यान करता हुआ तेरे नाम-मन्त्र-जप-पूर्वक एक-एक करके तेरे निमित्त अर्पण करता है, वह अनायास ही राजा होता है। हे कालि ! जो

साधक सम्मार्जनी द्वारा गृह में गिरे हुए वीर्य को लेकर उसमें समूलोत्पाटित केश मिलाकर मङ्गलवार के मध्याह्न (अथवा मध्य रात्रि, देखिये—ककार-कूट-रहस्य—'नखं केशं स्ववीर्यञ्च यद्यत्सम्मार्जनी-गतम्, मुक्त-केशो दिशा-वासो मूल-मन्त्र-पुरस्सरः। कुज-वारे मध्य-रात्रौ होमं कृत्वा श्मशानके.....॥) में चिता में केवल एक बार भी होमं करता है और होम करते वक्त प्रेम से निरन्तर तेरे मन्त्र का जप करता रहता है, वह हाथी की सवारी करनेवाला नर-पति होता है और उत्तम विद्वानों में श्रेष्ठ होता है।'

साधक! उपर्युक्त साधना पर विचार कीजिये। क्या उपर्युक्त साधना बिना घृणा, लज्जा, भय का त्याग किये सम्भव है? वीर्य, केश, नख—इससे अधिक घृणित होम-सामग्री क्या हो सकती है? ऐसी सामग्री को भी जो साधक पूजा की उत्तम सामग्री करके जानता, मानता और प्रयोग में लाता है, उसको फिर संसार में क्या कोई घृणा की वस्तु बाकी रह गई? चिता-सरीखा जिसका होम-कुण्ड तथा श्मशान-सरीखा जिसका पूजा-स्थल और महानिशा-सरीखा जिसका पूजा-काल है, क्या ऐसे साधक ने भय को नहीं जीत लिया? जो दिन-दोपहर नङ्गा रहता है, उसके बराबर निर्लज्ज दूसरा कौन है?

उपर्युक्त समय, स्नान तथा सामग्री से इष्ट-देव का प्रेम से पूजन करनेवाला और उसके चरणों में लीन होकर उसके मन्त्र का जप करनेवाला निस्सन्देह वीर-भाव की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। वह 'सिद्ध वीर' है।

'हालां पिबन् दीक्षित-मन्दिरेषु।
सुप्तो निशायां गणिका-गृहेषु॥
गृहे गृहे चर्वणं चर्वयन्तम्।
विराजते कौलिक-चक्रवर्ती'॥

अर्थात्—कौलिकों का सम्राट्, जिसने कुल-मार्ग की साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है, कलार की हाट में मदिरा पीता है, रात्रि में गणिका के घर में सोता है और घर-घर; जहाँ भी प्राप्त हो गया, वहाँ चर्वण-भक्षण करता हुआ शोभित होता है।

उपर्युक्त श्लोक का जरा व्यावहारिक बुद्धि से तात्पर्य समझने का प्रयत्न कीजिये। कलार की हाट और वेश्या का घर समाज में सर्व-निन्दित स्थान समझे जाते हैं। दरवाजे-दरवाजे फिर कर खाना महा-निन्दित तथा अपमान-जनक कार्य समझा जाता है। सारा समाज जिससे घृणा करता है, वह व्यक्ति भी ऐसे स्थानों से तथा ऐसे कार्यों को करने से घृणा करता है, सकुचाता है। भद्र तथा अभिजाति वर्ग का तो क्या कहना?

वैसे तो कोई महाशय भले ही घनघोर मद्यप और वेश्यागामी हो परन्तु खुले आम कलार की हाट में जाकर शराब पीना व वेश्या के घर सोने का साहस किसी में नहीं हो सकता। वैसे ही भद्र पुरुष चाहे भले ही मुफ्तखोर और दूसरे का माल उड़ानेवाले हों, परन्तु वे कभी किसी के दरवाजे खड़े होकर उसके घर का पका-पकाया अन्न मांगकर खड़े-खड़े नहीं खा सकते। क्यों ? क्योंकि इन कार्यों से उसे लोकापवाद का भय है। वह शरमाता है। वह मद्य-पान, वेश्या-गमन व दूसरे के घर मांग खाना बुरा समझता है और चाहे वह गुप-चुप इन कामों को करता भी हो, परन्तु प्रकट में जनता के अपमान व घृणा के डर से वह इन कामों को नहीं कर सकता, परन्तु कौलिक का तो देहाभिमान नष्ट हो चुका है। उसमें मानापमान की भावना कहां से आवे ? उसके लिये गणिका गणिका नहीं रह गई। उसकी दृष्टि में तो वह जीती-जागती जगदम्बा की प्रतिमा है–'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'—दु० स०। मद्य उसके लिये मद्य नहीं रह गया। मांगना उसके लिए भिक्षा-वृत्ति नहीं रह गई। वह सांसारिक मान से दूर भागता है, अपमान को अपनाता है। मनु के शब्दों में वही सच्चा ब्राह्मण है–

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

अर्थात् ब्राह्मण को सम्मान से सदा विष की तरह घबड़ाना चाहिये और अपमान की सदा अमृत की तरह आकांक्षा करनी चाहिये।

सच बात तो यह है कि कौलिक तो मनु के उपर्युक्त ब्राह्मण से भी आगे बढ़ा हुआ है। उसकी तो पसन्द ही मिट चुकी है, उसके लिये मानापमान दोनों समान हैं।

वीर-भाव की साधना सच्चे हृदय से करते-करते यह अवस्था समय प्राप्त होने पर साधक को स्वयं प्राप्त हो जाती है। इसके पूर्ण-रूपेण प्राप्त होते-होते कुछ बीच में माध्यमिक अवस्था रहती है। उस वक्त साधक को कुछ-कुछ देहाभिमान रहता है। यह अवस्था वीर तथा दिव्य भावों के बीच की 'सिद्ध वीर' अथवा 'दिव्य वीर' अवस्था है। इस मध्य-कालीन अवस्था में साधना के प्रयोग और भी कठिन हो जाते हैं। साधक चीनाचार से साधना करने लगता है। अब उसे सामान्य शौच से भी प्रयोजन नहीं है। पहले-पहल तो ये हाथ-पैर-मुँह धो लेते हैं, फिर यह कार्य मानसिक कल्पना से किया जाता है, बाद में मानसिक कल्पना की भी आवश्यकता नहीं रहती। पुरश्चर्यार्णव में इसका वर्णन निम्न प्रकार है—

मणि-बन्धादधः पाणि पादौ गुल्फादधः शिवे।

मुखं प्रक्षालयेद्देवि चीन-स्नानमिदं भवेत् ॥
स्नानं दानादिकं कृत्वा तथा पूजादिकं प्रिये ।
तथा म्लानो न मे देहो न च पापं ममास्ति वै ॥
किं स्नानं कस्यचित् स्नानमस्नातः कृत-भोजनः ।
सर्वमेव हृदम्भोजे मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
मयि जाता मन्त्रसिद्धिर्मम देवा वर-प्रदाः ॥

इत्यादि ।

अर्थात्—'कलाई से नीचे हाथ व गुल्फ से नीचे पैर धो लीजिये तथा कुल्ला कर लीजिये, चीन-स्नान हो गया । इस प्रकार का स्नान कर तथा दान व पूजादि कर साधक मन में चिन्तन करे—मेरा देह मलिन नहीं है, मेरा कोई पाप नहीं है—किस बात का नहाना, कैसा नहाना ! साधक बिना नहाये तथा भोजन करने के बाद इष्ट-साधन करे और कल्पना करे कि मेरे हृदय के अन्दर मुझमें सारा संसार प्रतिष्ठित है, मुझे मन्त्र-सिद्धि हो गई है और देवता मुझे वर देने को तैयार है ।'

उपर्युक्त महाचीन-क्रम 'निष्कल' है और अशक्तों के लिये है, जिनको कुछ सङ्कोच, झिझक वा घृणा है । परन्तु जो इसके भी ऊपर उठ चुके हैं, उनके लिये 'सकल' है, जिसका वर्णन पुरश्चर्यार्णव इस प्रकार करता है—

स्नानादि-मानसं शौचं मानसः प्रवरो जपः ।
पूजनं मानसं दिव्यं मानसं तर्पणादिकम् ॥
मानसो नियमः प्रोक्तो मानसं दन्त-धावनम् ।
सर्व एव शुभः कालो नाशुभो विद्यते क्वचित् ॥
न विशेषो दिवा-रात्रौ न सन्ध्यायां महानिशि ।
शुद्धिं न कारयेदत्र निर्विकल्पं मनश्चरेत् ॥
नात्र शुद्धेरपेक्षास्ति न चामेध्यादि-दूषणम् ।

❀ ❀ ❀

सर्वदा पूजयेद्देवीमस्नातः कृत-भोजनः ।
महानिश्यशुचौ देशो बलिं मन्त्रेण दापयेत् ॥
स्त्री-द्वेषो नैव कर्तव्यो विशेषात् पूजनं स्त्रियः ।
जप-स्थाने महा-शंखं निवेश्योर्ध्वे जपं चरेत् ॥
स्त्रियं गच्छन् स्पृशन् पश्यन् यत्र कुत्राप्यचूडके ।
भुक्त्वा ताम्बूलमन्याँश्च भक्ष्य-द्रव्यान् यथा-रुचि ॥
मांसं मत्स्यं दधिं क्षौद्रं संविदासवयो रसम् ।
भोज्यान्यशेष-भक्ष्याणि दत्वा भुक्त्वाऽऽचरेज्जपम् ॥
दिक्काल-नियमो नास्ति तिथ्यादि-नियमो न च ।

न जपे काल-नियमो नार्चादिषु बलिष्वपि ॥
स्वेच्छा-नियम उक्तोऽत्र महामन्त्रस्य साधने।
वस्त्रासनं गेह-देहं स्पर्शास्पर्श-विचारणे ॥
तैलं संलाप्य देवेशि ताम्बूलं भक्षयन् सदा।
नानाम्बराणि सन्धार्य देहं वस्त्रेण मार्जयेत् ॥
मन्त्रं स्नानं चरेद्देवि सर्वदा तद्-गताशयः।
केशान् सम्बर्द्धयेद्देवि सर्वदा तैल-भूषितः ॥
नाधर्मो विद्यते सुभ्रु किन्तु धर्मो महान् भवेत्।
स्वेच्छाचारोऽत्र कथितः प्रचरेद् हृष्ट-मानसः ॥
कृतार्थ-मन्यमानस्तु सन्तोष्य निज-मानसम्।
❀ ❀ ❀
❀ ❀ ❀ निर्विकल्पः सदा भवेत्।
सद्यो मद्यं पिवेद्देवि मातङ्गीभिर्विहारवान् ॥
योनिं चुम्बन लिहन् पश्यन् जपं कुर्यादनन्यधीः।
योनौ विचिन्त्य जप्तव्यं ❀ ❀ ❀
मुण्ड-माला गले धार्या कपालं पाणि-संगतम्।
❀ ❀ ❀
न शौचादि-क्रिया कार्याः स्मृति-शास्त्र-प्रचोदिताः ॥
एका लिंगे गुदे पञ्च इत्याद्यायाः प्रकीर्तिताः।
न ताः कार्याः साधकेन्द्रैः ❀ ❀ ❀
न देश-काल-नियमो भक्ष्यादि-नियमो न हि।
शौचादि-नियमो नास्ति महामन्त्रस्य साधने ॥
दिवसे वा तथा रात्रौ रात्रि-शेषे निशा-मुखे।
मांसं भुक्त्वासवं पीत्वा स्त्रियं गत्वाचरेज्जपम् ॥

अर्थात्—स्नान, शौच, दन्त-धावन, जप, पूजन, तर्पण, नियम इत्यादि सब मन से ही करे, शरीर से नहीं अर्थात् इनकी कल्पना मात्र ही करनी चाहिये। चीनाचारी को सब दिन, समय, मुहूर्त प्रभृति शुभ हैं; कोई भी काल अशुभ नहीं है। उसके लिए दिन, रात, साँझ, सबेरे, आधी रात में कोई अन्तर नहीं है। वह शुद्धि (स्थूल शुद्धि) नहीं करता। उसका मन निर्विकल्प है, उसको कोई पसंद नहीं, नापसन्द नहीं (विकल्प कहते हैं पसन्द या छाँट को)। सफाई या शुद्धि की उसको कोई आवश्यकता नहीं है। अमेध्य में वह कोई दोष नहीं मानता। चीनाचारी को देवी का पूजन सदा बिना नहाये हुये और भोजन करने के बाद करना चाहिये। अर्द्ध-रात्रि में गन्दे स्थान पर जाकर देवता को मन्त्र-युक्त बलिदान देवे। स्त्रियों से द्वेष न करे। स्त्रियों का विशेष रूप से पूजन

करे। जहाँ कहीं भी स्त्री-गमन, स्पर्शन, दर्शन करे। अचूड़क में भोजन करे (पुरश्चर्यार्णव में अचूड़क का लक्षण। यथा—'चूड़ोपनयनेर्हीनं एतच्चाचूड़कं विदुः' चूड़ोपनयन होने से पूर्व जो बालक मर गया हो, उसे अचूड़क कहते हैं)। स्त्रियों को ताम्बूल और यथा-रुचि भक्ष्य द्रव्य मांस, मत्स्य, दधि, क्षौद्र, मद्य इत्यादि सर्व प्रकार भक्ष्य भोज्य देकर तथा स्वयं खाकर जप करे। दिशा, काल, तिथि, इत्यादि की जप, अर्चा, बलि-प्रदान इत्यादि में कोई अपेक्षा नहीं होती। महामन्त्र की साधना में चीनाचार के अनुसार वस्त्र, आसन, शरीर, घर, स्पर्शास्पर्श के विषय में स्वेच्छाचार है अर्थात् छुआछूत का कोई विचार नहीं है। तैल-मर्दन, ताम्बूल-भक्षण तथा नाना प्रकार के वस्त्र धारण करे। शरीर को कपड़े से पोंछ सकता है। सर्वदा जगदम्बा के चरणों में मन लगाता हुआ साधक केवल मन्त्र (कल्पित) स्नान करे। केशों को बढ़ा हुआ रखे। प्रसन्न-मन होकर स्वेच्छाचरण करे। इसमें साधक को धर्म है, अधर्म नहीं। अपने को सर्वदा कृतार्थ समझकर मन को संतोष करके निर्विकल्प रहे। सद्यः मद्य-पान करके मातङ्गी (भंगन) के साथ विहार करता हुआ उसके उपस्थ का चुम्बन, अवहेलन, दर्शन करता हुआ जगदम्बा के चरणों का अनन्य-भाव से चिंतन कर इष्ट-मन्त्र का जप करे। योनि में जगदम्बा का चिन्तन करके जप करे। गले में मुण्ड (नर-कपाल) माला, हाथ में नर-कपाल लिए रहे। स्मृति-शास्त्र में कथित शौच-क्रिया (याने इतने बार उपस्थ धोना, इतने बार गुदा इत्यादि धोना इत्यादि) न करे। महाचीन-क्रमानुसार महामन्त्र के साधन में देश, काल, भक्ष्याभक्ष्य, शौचाशौच, इत्यादि का कोई नियम नहीं। यह विधि-निषेध से परे है। दिन-रात, सुबह-शाम, जब चाहे तभी मांस खाकर तथा मद्य पीकर स्त्री के सहवास में जप करे। इसी प्रकार पुनश्चर्यार्णव में 'महानील-क्रम' भी बताया गया है। यथा—

महानील-क्रमो देवि द्विविधः परिकीर्तितः।
सकलो निष्कलश्चेति तं क्रमं शृणु पार्वति॥
खड्ग-हस्तः शिरो न्यस्तः सर्वदा मुक्त-कुन्तलः।
सदा मांसासवोल्लासी विजया-घूर्ण-लोचनः॥
सिन्दूर-तिलकं भाले पाणौ तु मदिरा-रसम्।
रात्रौ पर्यटनञ्चैव रात्रौ शक्तेः प्रपूजनम्॥
योनि-चुम्बनं कर्म-शक्तेरालिंगनं तथा।
न करोति नरो यस्तु स कथं तव पूजकः॥
ताम्बूल-योनि-चक्रञ्च मुण्ड-मालां शवासनम्।
सिन्दूरं खड्गकं चैव संविदासवयो रसम्॥
एतान् विहाय यः कश्चित् कालीं साधितुमुद्यतः।

इह क्षोभमवाप्नोति परत्र नरकं व्रजेत् ॥
श्मशान-शायी मांसाशो संविदानन्द-मानसः ।
स्त्रियं पश्यन् स्पृशन् गच्छन् सर्व-कालं जपं चरेत् ॥
वेश्या-रतः श्मशानस्थो मृद्वचूडक-संयुतः ।
दन्ताक्ष-मालया देवि राज-दन्तेन मेरुणा ॥
मालां कृत्वा जपेद्देवि सदा ताम्बूल-चर्वकः ।
कपाल-मालाभरणो रामा-चुम्बन-तत्परः ॥
शक्त्यानन्दो नेत्र-युगे मुखे हाला गृहाङ्गणे ।
वेश्या-बाला करे माला शक्ति-लीला भगाम्बुजे ॥
योनि-सञ्चुम्बनं कृत्वा सर्व-काले जपञ्चरेत् ।
शक्तेर्भगं नमस्कार्यं सर्वमेतच्चराचरम् ॥
अविकारी प्रहृष्टात्मा स्त्री-भक्तो विजितेन्द्रियः ।
ईदृग्विधो नरो देवि महानील-क्रमो मतः ॥
अशक्तानां निष्कलः स्यात्तं क्रमं शृणु पार्वति !
विजया-दुग्धकं पीत्वा सच्चिदानन्द-मानसः ॥
स्फाटिकीं मालिकां कृत्वा विहारे जपमाचरेत् ।
दिक्काल-नियमो नास्ति तिथ्यादि-नियमो न च ॥
न जपे काल-नियमो महा-मन्त्रस्य साधने ।

❀ ❀ ❀

मृदु-कोमलकं देवि चूडकं वाप्यचूडकम ।
शवं वीरासनं कृत्वा योनि-स्वगासनं च वा ॥
काम-रूपासनं देवि सुरतासनमेव च ।
सिन्दूरासनं देवि पर्वतासनमेव च ॥

अर्थात्—हे देवि ! महानील-क्रम दो प्रकार का बताया गया है—सकल और निष्कल । सकल का क्रम सुनो, हाथ में खड्ग कपाल को धारण किये हुये सर्वदा साधक मुक्त-केश रहे, सदा मांसासव के उल्लास से युक्त विजया-पान से जिसके नेत्र घूर्णित हो रहे हैं । मस्तक में सिन्दूर का तिलक तथा हाथ में मदिरा-रस को धारण किये हुए साधक रात्रि को पर्यटन तथा शक्ति (स्त्री) का आलिङ्गन करे । जो मनुष्य ऐसा नहीं करता, हे देवि ! वह कैसे तेरा पूजक कहला सकता है ? ताम्बूल, योनि-चक्र, मुंड-माला, शवासन, सिन्दूर, खड्ग और सम्विदासव रस इनको छोड़कर जो साधक काली का साधन करने को उद्यत होता है, उसको यहाँ क्षोभ होता है और मरणोपरांत वह नरक-गामी होता है । नील-क्रम का साधक श्मशान-शायी, मांसाशी, ज्ञानानन्द से युक्त मनवाला, स्त्रियों को देखता, स्पर्श करता हुआ तथा उनका भोग करता हुआ

सर्व-काल में जप करे। नील-क्रम का साधक श्मशान में स्थित, मृदु तथा अचूड़क* से युक्त, वेश्या में रत, दन्त अथवा रुद्राक्ष-माला से, जिसका मेरु राज-दन्त• है, जप करे और सदा ताम्बूल सेवन करे। नील-साधक कपाल-माला से अलंकृत रामा-चुम्बन तत्पर रहता है। नील-साधक के नेत्र शक्त्यानन्द से युक्त, मुख में मदिरा, उसके घर के आँगन में वेश्या-बाला, हाथ में माला-युक्त होकर स्त्री के योनि-कमल में चित्-शक्ति की लीला देखता है। योनि-चुम्बन करके सब काल में जप करे। स्त्री के उपस्थ को 'यही सब चराचर है,' ऐसी भावना से नमस्कार करे। इस प्रकार प्रहृष्टात्मा, विकार-हीन, स्त्री-जाति का भक्त और जितेन्द्रिय मनुष्य महा-नील-क्रम का साधक है।

अब हे पार्वति ! जो अशक्त हैं (अर्थात् जिनके मन में वासना की दुर्बलता है), उनके लिए निष्कल नील-क्रम है। विजया-मुक्त दुग्ध (मद्य के बदले) पान करके मन में सच्चिदानन्द-युक्त होकर स्फटिक की माला से विहार (मठ) में जप करे। दिशा, काल, तिथि का महा-मन्त्र के साधन में कोई नियम

---

* मृदु और अचूड़क का लक्षण पुरश्चर्यार्णव में इस प्रकार दिया हुआ है। यथा—

अर्वाक्-षण्मासतो गर्भ-च्युतमाहुर्मृदुं बुधाः ।
चूडोपनयनैर्हीनमेतच्चाचूडकं विदुः ॥

अर्थात्— ६ मास तक के स्रवित अर्भक के मृत शरीर को मृदु और चूड़ोपनयन-हीन मृत बालक के शव को अचूड़क कहते हैं।

•शक्तिसंगम-तन्त्रे, तारा-खण्डे (६) राज-दन्त-लक्षणम्, यथा—

सम्मुखौ यौ उभौ दन्तौ राज-दन्तौ प्रकीर्तितौ ।
करालास्य-महाकाल्या दानवा भक्षिताः पुरा ॥३४॥
त्रैलोक्य-ग्रासिनौ दन्तौ राज-दन्ताविति स्मृतौ ।
राज-दन्तेति संज्ञा वै देव्या पूर्वं कृता प्रिये ॥३५॥

यौ दैत्य-चर्वकौ दन्तौ मम कार्य-करावुभौ ।
तस्मात्प्रीतेन मनसा मेरु-कार्ये नियोजितौ ॥३६॥

अर्थात् मुख में सबसे आगे के (सामने के) दाँत दो ऊपर के राज-दन्त कहलाते हैं। महाकाली ने पूर्व-काल में जब अपने कराल मुख से दैत्यों को भक्षण किया। इस कारण भी त्रैलोक्य को ग्रास करनेवाले ये दो दाँत गज-दन्त कहलाये। हे प्रिये ! देवी ने पूर्व-काल में इनकी राज-दन्त संज्ञा की है कि ये दोनों दन्त मेरा कार्य करनेवाले हैं, इसलिये प्रसन्न होकर मैंने इनको 'मेरु' नियुक्त किया है।

नहीं है। मृदु, कोमल *, चूड़क वा अचूड़क शव में वीरासन करके अथवा योनि, त्वक्, काम-रूप, सुरत, सिन्दूर, पर्वत इत्यादि म से कोई भी आसन ग्रहण कर जप करे, इत्यादि।

इसी प्रकार अन्य साधन-क्रम (गन्धर्व-क्रम, सौभाग्य-क्रम, ब्रह्म-मार्ग-क्रम) भी हैं और ये सब साधन-क्रम उच्च कोटि के वीर साधक के लिये हैं। उपर्युक्त साधन-क्रमों पर जरा ठण्डे दिल से विचार कीजिये, इनके लिये कितने मनः-संयम की आवश्यकता है। पूजा-स्थान श्मशान और वहाँ भी रात्रि में साधना करना! क्या ऐसे साधक ने भय को पराजित नहीं कर लिया? शवासन, मनुष्य के दाँतों की माला, मनुष्य की खोपड़ी का पूजा-पात्र, स्नान-शौचादि से विरक्ति—ऐसे जिसके साधनोपकरण हैं, क्या उसके समीप कभी घृणा फटक भी सकती है? जो खुले आम चाण्डाल के घर में रह सकता है, विवस्त्र होकर घूम-फिर सकता है, उसको क्या कभी लज्जा, शङ्का, कुल, शील, जाति की विभीषिका सता सकती है? और जब उसकी दृष्टि तथा व्यवहार में भेद-भाव ही नहीं रह गया, तो वह किसी की जुगुप्सा क्यों करने लगा?

किंचित् निष्पक्ष होकर आपको विचार करना होगा। बाहरी बातों को देखकर भुलावे में मत पड़िये। देखने पर आपको बाहरी दृष्टि से ये सब कार्य बड़े भयावह, वीभत्स तथा निर्लज्जता-पूर्ण लगेंगे, परन्तु सूक्ष्म विवेचन करने पर आप जानेंगे कि ये सब साधन केवल पाश-विमुक्ति-हेतुक हैं, जिनमें बँधे होने के कारण आपने उपर्युक्त साधनों को भयावह, वीभत्स अथवा निर्लज्जता-पूर्ण समझा है। जिसके हृदय में डर है, वही तो किसी स्थान वा कार्य वा वस्तु को भयावह समझेगा। निर्भय को भय कहाँ? घृणा करनेवाला ही किसी वस्तु अथवा स्थान इत्यादि में वीभत्सता देख सकता है। जिसके हृदय में घृणा का लेश भी नहीं, उसको कहाँ की वीभत्सता? लज्जा-शील ही किसी कार्य को निर्लज्जता-पूर्ण समझ सकता है। परन्तु जिसकी लज्जा की भावना का ही उन्मूलन हो चुका है, वह लज्जा व निर्लज्जता का भाव कैसे समझे? इसी प्रकार अन्य पाशों के विषय में भी समझिये। इन साधनों से स्पष्ट हो जाता है कि वीर-भाव की साधना का उद्देश्य केवल एकमात्र यही है कि येन केन प्रकारेण किसी भी उपकरण से हो, अष्ट-पाशों का छेदन किया जाय। नहीं तो शास्त्र

---

*कोमल-लक्षणं, शक्तिसंगमे, तारा-खण्डे ६७, ६८

निवृत्त-चूडको बालो हीनोपनयनः शिवे।
यो मृतः पञ्चमे वर्षे तमेव कोमलं विदुः॥

जिसका चूड़कर्म हो गया हो, परन्तु उपनयन न हुआ हो, ऐसे पञ्चम वर्ष में मृत बालक के शव को कोमल कहते हैं।

बार-बार चेतावनी क्यों देते कि निर्विकल्प रहो, इन्द्रियासक्ति छोड़ो, स्त्रियों को देवोपम समझो, उनको देखो भी मत, इत्यादि। यथा—

अविकारी प्रहृष्टात्मा स्त्री-भक्तो विजितेन्द्रियः।
ईदृग्विधो नरो देवि महा-नील-क्रमो मतः॥

श० सं० १: २० : १८

अर्थात्—हे देवि, महानील-क्रम की साधना वही कर सकता है, जो स्त्री-जाति के प्रति भक्ति रखता हो, प्रसन्न-चित्त; विकार-हीन तथा इन्द्रियों को जीतनेवाला हो।

इसी प्रकार चीन-क्रम के विषय में—

नित्य-मुक्त-स्वभावो यः तस्मै तद्-व्रतमोरितम्।
स्त्री-द्वेषो नैव कर्तव्यो विशेषात्पूजनं स्त्रियः॥
ब्रह्मी-भूते मदाचारे विकल्पः कः प्रियेऽस्ति वै।
द्वन्द्व-भावं परित्यज्य सर्व-सिद्धीश्वरो भवेत्॥

श० सं० २

अर्थात्—'चीन-क्रम का व्रत उसी साधक के लिये विहित है, जो नित्य-मुक्त-स्वभाव हो। स्त्रियों से द्वेष कदापि नहीं करना चाहिये, स्त्रियों का विशेष-रीत्या पूजन करना चाहिये। मेरे आचार में जब साधक की भावना 'अहं ब्रह्म' की हो जाती है, तो हे प्रिये! फिर विकल्प (ग्रहण वा त्याग) वहाँ रह जाता है? जो साधक द्वन्द्व-भाव (भेद-भाव) को परित्याग कर लेता है, वह सर्व-सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।'

❀ ❀ ❀

लेखक ने अपने विचार से इस विषय के पर्याप्त प्रमाण पेश कर दिये हैं परन्तु यदि किसी साधक को इस विषय में फिर भी शङ्का रह जाय, तो उन्हें शक्तिसङ्गम, वीर-तन्त्र, पुरश्चर्यार्णव, महाकाल-संहिता इत्यादि तन्त्र-ग्रन्थों को पढ़ना तथा वाममार्ग के उत्तम साधकों का सत्संग करके उनके साथ में चक्रार्चन करना चाहिये। चक्रार्चन में सभी प्रकार के विचारों के वीराचारियों का एकत्र होना स्वाभाविक है और फिर चूंकि चक्रार्चन केवल पूजन के ही निमित्त होता है, अतएव उपस्थित साधकों के बीच एतत्सम्बन्धी वार्त्तालाप होने से ज्ञान की वृद्धि होना स्वाभाविक है। यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि वीर-भाव के साधन पुस्तकों में पढ़ने से कभी भी समझ में नहीं आते। ये साधन तभी समझे जा सकते हैं, जब कि साधकों, विद्वानों तथा गुरुओं के साथ प्रत्यक्षतः इसके विषय में बातचीत होती है। चक्र-सम्मेलन इसके अत्यन्त ही उपयुक्त है, कारण कि पूजा के आनन्द तथा प्रथमा के उल्लास में साधकों के

संकोच खुल जाते हैं और उनके हृदयों में गायन करने की भावना नहीं रह जाती। इसलिये कुलार्णव तन्त्र में लिखा है कि—

उत्तमा नित्य-पूजा स्यान्मध्यमं पर्व-पूजनम्।
मास-पूजाऽधमा देवि मासादूर्ध्वं पशुर्भवेत्॥
विहितैर्मादिभिर्द्रव्यैर्मासादूर्ध्वं समर्च्चनम्।
पशोर्भूयः प्रवेशेच्छा यदि स्याद्दीक्षयेत्पुनः॥

कु० १० : ३, ४।

अर्थात्—चक्रार्चन नित्य करना उत्तम है, पर्व-काल में चक्रार्चन मध्यम तथा मास-मास का चक्र-पूजन अधम है। जो मास में एक दिन भी पूजन नहीं करता, वह पशु हो जाता है (इसमें संदेह नहीं है—कारण कि उसको कौलों का पूजा-सत्सङ्ग प्राप्त न होने से कुल-शास्त्रों का ज्ञान नहीं हो सकता और जो थोड़ा-बहुत ज्ञान उसे पहले का रहता भी है, उसका अनुशीलन-मनन न होने से वह विस्मृत हो जाता है) परंतु यदि ऐसे पतित साधक को पञ्च-मकार से पूजा करने की फिर भी इच्छा हो यानी (फिर भी वीर-भाव की साधना करना चाहता हो), तब उसे फिर नये प्रकार से दीक्षा लेनी चाहिये।

अब आपको भली प्रकार स्पष्ट हो गया होगा कि वीर-भाव की साधना किस प्रकार आपके पाशों का छेदन करके आपको जीवन्मुक्त अवस्था में पहुँचाती है। ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर आपको अब पञ्च-मकारों की प्रकृत रूप में आवश्यकता नहीं रह जाती। आवश्यकता न होने पर आपको उनके लिये इच्छा-अनिच्छा भी नहीं। जब साधक की ऐसी अवस्था हो जाती है, तो समझ लीजिये, वह दिव्य-भाव के अन्दर प्रवेश कर चुका है।

दिव्य-भाव

कृत्वोङ्कार-प्रदीपं मृगय-ग्रह-पतिं सूक्ष्म-नाड्यन्तरस्थं,
संयम्य द्वार-वाहं पवन-पटु-तरं नायकं चेन्द्रियाणाम् ।
वाग्वादैः कस्य हेतोर्वितरसि तरसा तेन तेनेह किञ्चित्,
श्वात्मस्थं पश्य नाथ भ्रमसि किमुपरैः शास्त्र-जालांधकारैः ।।

दिव्य-भाव की अवस्था को प्राप्त करने के लिये पञ्च-मकारों को आप जिस रूप में वीर-भाव में प्रयुक्त करते आये हैं, उस रूप में उनको प्रयुक्त करने की आपको आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जिस प्रकार भरपेट भोजन करने पर आपको अमृतोपम स्वादु व्यञ्जन की ओर भी आकर्षण नहीं होता, वही बात आप दिव्य-भाव के विषय में भी समझ लीजिये। आपकी मद्य वह मद्य नहीं रह गई है, जो जन-समुदाय में मद्य करके गिनी जाती है, बल्कि ब्रह्मानन्द-रस है—

आमूलाधारमाब्रह्म-रन्ध्रं गत्वा पुनः पुनः ।
चिच्चन्द्र-कुण्डली-शक्तिः सामरस्य-सुखोदयः ।।
व्योम-पंकज-निस्यन्द-सुधा-पान-रतो नरः ।
सुधा-पानमिदं प्रोक्तमितरे मद्य-पायिनः ।।

कुलार्णव ५ : १०७, १०८

अर्थात्—'चन्द्रमा के समान प्रकाशवती चैतन्य-रूपा कुंडली शक्ति जब मूलाधार से उठकर बार-बार ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर सहस्रार में परमात्मा से संयुक्त होती है और इस सामरस्य से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप व्योम-पङ्कज (सहस्र-दल-कमल) से अमृत का निर्झरण होता है; इसको खेचरी मुद्रा के प्रयोग से जो साधक पान करते हैं, वे सुधा (सुरा) पान करते हैं। इनके अतिरिक्त तो मद्य-पायी हैं।' शक्ति-संगम का कथन है—

न मद्यं माधवी मद्यं—मद्यं शक्ति-रसोद्भवम् ।

श० सं० २ : ३२ : २५ ।

मद्य माध्वी, पैष्टी प्रभृति नहीं है, बल्कि शक्ति-शिव-सामरस्य से उद्भूत रस है। शक्तिसंगम में फिर आगे चलकर दिव्य-पान का-लक्षण बताया है--

प्राणापानौ समाहारौ प्रत्याहारो मनः स्थिरम् ।
भानु-मण्डलगं भित्त्वा इन्दु-मण्डल-मध्यगम् ।।

सुषुम्णा-वर्त्मना नित्यं सुधा-धारापकर्षिणी ।
दिव्य-पानमिदं प्रोक्तं सर्व-सिद्धि-करं परम् ॥

श० सं० ३ : २३ : ३, ४, ५

इसी को शिव-संहिता ने 'कुलामृत' कहा है । यथा—

अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्द-लक्षणम् ।
श्वेत-रक्तं तेजसाढ्यं सुधा-धारा-प्रवर्षिणी ॥
पीत्वा 'कुलामृतं' दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ।

श० सं० ४ : ५

अर्थात्—'वह परमानन्द-लक्षण स्वर्गस्थ (सहस्रारस्थ) अमृत है, जो श्वेत-रक्त-वर्ण तैजस से युक्त सुधा-धारा का वर्षक है । योगी इस दिव्य कुलामृत का पान करके फिर कुल में प्रवेश करे ।' षट्-चक्र-समूह का नाम कुल है । देखिये, दिव्य-भावापन्न महात्मा मद्य की क्या परिभाषा करते हैं; उस मद्य में वे कितने मतवाले हो रहे हैं; यथा—

ज्ञान मदमाते जे नैना निस-दिन तिनको कबहुँ न होत खुमारी ।
सत के पियाले में धरम भर-भर पियो रसना सवाद लेत तारन-तारी ॥
तन कर माँटो मन कर सायन पञ्च महाभूत आनन्दकारी ।
'हरिदास' डागुर पिया को रिझाय लेत टपकत बूँद होत अँगियारी ॥

हरिदास जी की प्रथमा ज्ञान-मद्य है ।

'धुर तें मधुर मधु-रस हू विधुर करे,
मधु-रस बेधि उर गुरु रस फूनी है ।
धुव पहलाद उर हिय अहलाद जासों,
प्रभुता तिलोकहू की तिन सम-तूनी है ।
बेदम से बेद मतवारे मतवारे परे,
मोहे मुनिदेव देव सूली उर सूनी है ।
प्याला भरि दे री एरी सुरति किलारी तेरी,
प्रेम मदिरा सों मोहि मेरी सुधि-बुधि भूली है ।'

'देव' जी की राय में सुरति (भक्ति) कलवारनी की प्रेम-मदिरा ही 'प्रेम-लक्षणा भक्ति' मदिरा है । यही भक्त-शिरोमणि मीराबाई की भी राय है 'पीये प्याला प्रेम रस भर-भर ओछ अमल की स्वाद कहारी' यथार्थ है । प्रेम कहिये, भक्ति कहिये, जब ऐसे-ऐसे घनघोर नशों में डूब गये तो 'ओछे अमल' हलके नशे, दुनियावी शराब या भौतिक मद्य में क्या आनन्द ?

इसी प्रकार दिव्य-भावापन्न योगी के मांस, मत्स्य, मुद्रा भी प्रकृत रूप में नहीं रह जाते। कुलार्णव का कथन है—

पुण्यापुण्य-पशुं हत्वा ज्ञान-खड्गेन योग-वित्।
परे लयं नयेच्चित्तं पलाशी स निगद्यते ॥

कु० ५ : १०६

अर्थ—'जो साधक पाप व पुण्य नामक पशुओं को ज्ञान-खड्ग से मारकर परा-शक्ति में अपने चेतस् को क्षय करता है, वही यथार्थ मांसाशी है।' कर्पूर-स्तव-राज में लिखा है—

सलोमास्थि स्वैरं पललमपि मार्जारमसिते।
परश्चोष्ट्रं मेषं नर-महिषयोश्छागमपि वा ॥
बलिं ते पूजाया मयि वितरतां मर्त्य-वसतां।
सतां सिद्धिः सर्वाः प्रतिपदमपूर्वा प्रभवति ॥

उपर्युक्त श्लोक का सीधा-सादा अर्थ तो यह है कि 'हे काली! जो साधक मेरे निमित्त लोमास्थि-सहित मांस, बिल्ली, ऊँट, मेष, नर, महिष तथा छाग बलि देता है, उसको सिद्धि मिलती है.....इत्यादि।' परन्तु दिव्य-भावापन्न साधक के लिये इसका अर्थ यह नहीं, कुछ और ही है। साधक! यदि आप भी विचार करेंगे, तो आपकी भी समझ में आ जायगा कि उपर्युक्त श्लोक में जो बलि-पशु बतलाये गये हैं, उनका कुछ-न-कुछ भीतरी अर्थ अवश्य है। अन्यथा जरा सोचिये, सिवाय मेष तथा छाग के अन्य बलि-पशु असाधारण-से लगते हैं। बिलाव बलि-प्रदानार्थ तो खैर कहीं नहीं है, परन्तु उसका मांस भी कोई नहीं खाता। ऊँट भी बलि-प्रदान अथवा मांस-भोजन में कहीं भी देखा-सुना नहीं गया। शायद अरब में हो, तो नहीं कहा जा सकता। नर-मांस से तो सभी घृणा करते हैं। महिष अन्त्यजों में ही भक्ष्य है और स्वास्थ्य के लिये भी अच्छा नहीं बतलाया जाता। आप ही सोचिये। यदि श्री महाकाल का, जिन्होंने यह कर्पूर-स्तव-राज बनाया है, तात्पर्य यह होता कि मांस की बलि चढ़ाई जाय व मांस खाया जाय, तो वे अपने स्तोत्र में मुर्गी, तीतर, हिरन, मोर इत्यादि स्वादु मांसवाले पशु-पक्षियों को न रखते? जो भोजन आपको प्रिय लगेगा, वह देवता को प्रिय नहीं लगेगा! जिस खाद्य से आप घृणा करते हैं, क्या उसे आप देवता पर चढ़ाते हैं? इससे सिद्ध हो जाता है कि उनका उपर्युक्त पशुओं के मांस से तात्पर्य कुछ और से है। इसमें और भी देखने की बात है। ये गिनती में सिर्फ ६ हैं।

इस श्लोक का अर्थ दिव्य-भाव में (जो यथार्थ भाव शक्ति-पूजा का है) यह है—साधक काम-क्रोधादिक षड्रिपुओं की बलि जगदम्बा के चरणों में देवे। इसीलिये इन बलि-पशुओं की संख्या षड्रिपुओं के साथ मिलाने के लिये ६ है। यहाँ षड्रिपुओं में काम का प्रतीक छाग, क्रोध का प्रतीक महिष, लोभ का प्रतीक बिलाव, मोह का प्रतीक मेष, मद का प्रतीक नर (मनुष्य) और मात्सर्य का प्रतीक ऊँट है। ये गुण इनमें मिलते भी हैं। जरा बारीकी से विवेचन करने की आवश्यकता है। अन्नदा-कल्प में लिखा है 'काम-क्रोधौ छाग-ग्राहौ बलिं दत्वा प्रपूजयेत्' अर्थात् काम-क्रोध-रूपी छाग-महिष की बलि देकर जगदम्बा का पूजन करे। देखिये कर्पूर-स्तव-राज की विमलानन्ददायिनी टीका।

भैरव-यामल ने भी मांस का यही उपर्युक्त अर्थ किया है, जो ऊपर लिखा गया है। यथा--

काम-क्रोध-सुलोभ-मोह पशुकांश्छित्वा विवेकासिना।
मांसं निर्विषयं परात्म-सुखदं खादन्ति तेषां बुधाः॥
ते विज्ञान-परा धरातल-सुरास्ते पुण्य-वन्तो नराः।
नाश्नीयात् पशु-मांसमात्मविमेत हिंसां परं सज्जनः॥

अर्थ स्पष्ट है। आगमसार में लिखा है 'मा शब्दाद्रसना ज्ञेया तदाशान् रसना-प्रिये। सदा यो भक्षयेद्वि स एव मांस-साधकः' अर्थात् हे रसना-प्रिये, 'मा' शब्द से तात्पर्य रसना से है और उसके अंश (वाणी) का जो भक्षण करता है, वही मांस-साधक है; तात्पर्य यह हुआ कि मांस-साधक वह है, जो वाक्संयमी या मौनी है।

दिव्य-भावापन्न साधक के मत्स्य का अर्थ कुलार्णव तन्त्र ने इस प्रकार किया है—

मनसा चेन्द्रिय-गणं संयम्यात्मनि योजयेत्।
मत्स्याशी स भवेद्वि शेषाः स्युः प्राणि-हिंसकाः॥

अर्थात्—मन से इन्द्रियों का संयमन करके मन को जो परमात्मा में लगाता है, वह मत्स्य-भोजी है। अन्य तो प्राणि-हिंसक हैं। विजय-तन्त्र तथा आगम-सार में मत्स्य की यह परिभाषा है—

गङ्गा-यमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद्यस्तु स भवेन्मत्स्य-साधकः॥

अर्थात्—गङ्गा-यमुना नाम की मनुष्य-शरीर में दो नाड़ियाँ इडा, पिङ्गला हैं। इनमें दो मत्स्य (श्वास-प्रश्वास) चलते रहते हैं। जो साधक इन दोनों

श्वास-प्रश्वास नामक मत्स्यों को पकड़ कर खा जाता है, वह मत्स्य-साधक है। अर्थात् जो कुम्भक क्रिया से श्वास-प्रश्वास को रोक देता है।

दिव्य साधक की मुद्रा का अर्थ भैरवयामल ने इस प्रकार किया है—

आशा-तृष्णा-जुगुप्सा-भय-विशद-घृणा-मान-लज्जा-प्रकोपाः।
ब्रह्माग्रावष्ट-मुद्राः पर-सुकृति-जनैः पाच्य-मानाः समन्तात् ॥
नित्यं संभक्षयेत्तानवहित-मनसा दिव्य-भावानुरागी।
योऽसौ ब्रह्माण्ड-भाण्डे पशु-हित-विमुखो रुद्र-तुल्यो महात्मा ॥

अर्थात्—आशा, तृष्णा, जुगुप्सा, भय, घृणा, मान, लज्जा, क्रोध—इन अष्ट-मुद्राओं को जो पुण्य-भाक् साधक ब्रह्माग्नि में भली प्रकार पका कर दिव्य-भावापन्न होकर भक्षण करते हैं, वे रुद्र-तुल्य होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि आशा, तृष्णा इत्यादि दुष्प्रवृत्तियों का ज्ञान के द्वारा नाश करना ही मुद्रा है। आगम-सार के अनुसार मुद्रा का अर्थ दिव्य-भाव में इस प्रकार है—

सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रितश्चरेत् ॥
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलः पारदोपमः ॥
सूर्य-कोटि-प्रतीकाशश्चन्द्र-कोटि-सुशीतलः।
अतीव-कमनीयश्च महा-कुण्डलनी-युतः ॥
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रा-साधक उच्यते।

अर्थात्—हे देवेशि! सहस्र-दल पद्म की कर्णिका में आत्मा का निवास है, जो कि पारद के समान है, करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान तथा करोड़ों चन्द्रमाओं के समान उत्तम शीतलता से युक्त है, बड़ा ही कमनीय है। ऐसी आत्मा को महा-कुण्डलनी से युक्त करने का ज्ञान जिसमें उदित होता है, वह मुद्रा-साधक है। तात्पर्य यह है कि सहस्रार में कुण्डलनी-युक्त आत्मा का ध्यान करना मुद्रा कहलाता है।

दिव्य-भावापन्न साधक का मैथुन वह भौतिक मैथुन नहीं रह जाता, जो जीव-जगत् में नित्य का व्यवहार है। उस मैथुन के लिये शास्त्र का कहना है—

शक्ति-सम्भोग-मात्रेण यदि मोक्षो भवेत वै।
सर्वेऽपि जन्तवो लोके मुक्ताः स्युः स्त्री-निषेवणात् ॥

अर्थात्—यदि स्त्री-सम्भोग मात्र से मोक्ष मिलता, तो सभी प्राणी मैथुन करते ही हैं, इसलिये वे स्वभावतः ही मुक्त होने चाहिये। उपर्युक्त श्लोक से शास्त्र का तात्पर्य स्पष्ट ही समझ में आ जाता है कि तन्त्रोक्त मैथुन भौतिक

मैथुन नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता, तो फिर मोक्ष-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधन चलते ही क्यों, जब उत्तम सुलभ साधन प्रकृति-दत्त उपस्थित था ?

इसी कारण साधक इस पशु-मैथुन को छोड़कर दिव्य मैथुन की ओर उन्मुख हुआ है और अब उसका मैथुन है--

पर-शक्त्यात्म-मिथुन-संयोगानन्द-निर्भरः ।
य आस्ते मैथुनं तत्स्यादपरे स्त्री-निषेवकाः ॥

अर्थात्—आत्मा तथा परा-शक्ति मिथुन के संयोगानन्द का आस्वादन करना ही मैथुन है । अन्य तो स्त्रैण हैं । कर्पूर-स्तव-राज में लिखा है--

समन्तादापीन-स्तन-जघन-धृग्यौवन-वती ।
रतासक्तो नक्तं यदि जपति भवतस्तव मनुम् ॥
विवासास्त्वां ध्यायन् गलित-चिकुरस्तस्य वशगाः ।
समस्ताः सिद्धौघा भुवि चिर-तरं जीवति कविः ॥

इस श्लोक को पहले भी उद्धृत किया गया है और उसका वहाँ पर वीर-भाव-परक अर्थ भी किया है, परन्तु साधकों को ज्ञात होना चाहिये कि कालिका-विद्या की साधना वीर-भाव तथा दिव्य-भाव दोनों से होती है । निरुत्तर-तन्त्र का वचन है कि—

दिव्य-भावं वीर-भावं बिना कालीं प्रपूजयेत् ।
पूजने नरकं याति तस्य दुःखं पदे पदे ॥

अर्थात्--यदि साधक दिव्य तथा वीर-भाव-विहीन होकर काली का पूजन करे, तो वह पद-पद पर दुःख पाता और मरने पर नरक-गामी होता है । अतएव यह स्पष्ट है कि कर्पूर-स्तव-राज द्व्यर्थक है और उसमें वीर तथा दिव्य दोनों भावों की साधना वर्णित है । वीर-भाव-परक अर्थ पहले किया जा चुका है । इसका दिव्य-भाव-परक अर्थ श्री विमलानन्द नाथ की विमलानन्ददायनी स्वरूप-व्याख्या (टीका) में इस प्रकार है--

अस्मिन् लय-योगो वर्ण्यते । हे मातः ! जननि ! भक्तः दिव्याचार-रतो योगी साधकः । यदि नक्तं निशायां प्रबुद्धः सन् इत्यर्थः (या निशा सर्व-भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी-भगवद् गीता) समन्तादापीन-स्तन जघन-धृग्यौवन-वती रतासक्तः सर्व-दिग्-विदिग्स्थितानां जीवानां उत्पादयित्र्या च नित्य-युवती-रूपया कुल-कुण्डलिनी-शक्त्या सह जीवात्मानं परात्मनि लीनं कुर्वन् सन् (योनि-मुद्रां समासाद्य स्वयं शक्ति-मयो भवेत् । स शृङ्गार-रसेनैव विहरेत्परमात्मनि । आनन्द-

मयः सम्भूय ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत् ॥ घेरण्ड संहिता ॥ तथा च गोरक्ष-संहितायां जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाय शिरोऽम्बुजे । शक्ति-मयः स्वयं भूत्वा पर-शिवेन सङ्गमम् । नाना-सुख विहारञ्च चिन्तये-त्परमं पदम् ॥) अत्र स्तन-जघन-धृगित्यनेन कुल-कुण्डलिन्या जगतां सृष्टि-स्थिति-कर्तृत्वे सूचितं (ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं इष्ट-देव-स्वरूपि-णीम् । सदा षोडश-वर्षीयां पीनोन्नत-पयोधरां श्यामां सूक्ष्मां सृष्टि-रूपां सृष्टि-स्थिति-लयात्मिकाम् ॥ तन्त्र-कल्पद्रुमः ॥)

विवासाः विगतं वासः मायावरणो यस्य तथा-भूतः प्रबुद्ध इत्यर्थः ॥ गलित चिकुर-गलितं नष्टं चिकुरत्वं चापल्यं यस्य सः, निश्चल-चित्तः सन् । त्वां परम-शिवेन-सह सामरस्य-निरतां त्वां चिन्तयन् तव मन्त्र-राजं मनसा चिन्तयति स तत्त्व-ज्ञानी भूत्वा दिव्यौघ-सिद्धौघ-मानवौघा सदृश चिरजीवी भवतीत्यर्थः । समस्ताः सिद्धौघाः, अत्र बहु-वचन प्रयोगेण-दिव्य-सिद्ध-मानवौघानां ग्रहणं बोद्धव्यम् ।

अर्थात्—इसमें लय-योग का वर्णन किया जाता है । हे माता ! भक्त दिव्याचार-रत योगी साधक ब्रह्म-विद्या (ज्ञान) लक्षणा रात्रि में जागता हुआ (गीता में लिखा है कि जब सब प्राणियों की रात्रि है, उसमें संयमी अर्थात्—ज्ञानी, योगी या दिव्याचारी साधक जागता रहता है) यदि सर्व प्रकार से मोटे स्तनों तथा जांघोंवाली के साथ रति-क्रीडा में आसक्त होकर—यानी समस्त संसार के दिग्-विदिग् में फैले हुए जीवों को पैदा करने तथा उनका पालन करनेवाली युवती-रूपिणी कुल-कुण्डलनी के साथ जीव को परमात्मा में लय करता हुआ (घेरण्ड-संहिता में लिखा है कि योनि-मुद्रा बाँधकर साधक स्वयं शक्ति-मय हो जाय और शृङ्गार-रस से परमात्मा के सङ्ग विहार करे । इस प्रकार आनन्दमय होकर जीवात्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य होता है । गोरक्ष-संहिता का वचन है कि जीवात्मा-सहित कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान करके शिरोऽम्बुज में पहुँचावे, स्वयं शक्ति-मय होकर उसका परम शिव के साथ सङ्गम तथा नाना प्रकार के सुख-पूर्ण विहार का चिन्तन करे, जो परम पद है ।) यहाँ 'स्तन, जघन' शब्दों से कुल-कुण्डलिनी के जगत् के सृष्टि-स्थिति-कर्तृत्व को सूचित किया गया है । (तन्त्र-कल्पद्रुम में लिखा है कि इष्ट-देव-स्वरूपिणी कुण्डलिनी देवी का, जो सदा षोडश-वर्षीया, नित्य युवती, मोटे तथा ऊँचे स्तनोंवाली, काली या सांवली, सूक्ष्म सृष्टि-स्थिति-लय की कारिणी है, साधक ध्यान करे) । विवासा, अर्थात् विगत नष्ट हो चुका है वास परिच्छद

मायावरण जिसका, माया-रहित होकर तथा गलित-चिकुरः, अर्थात् गलित नष्ट हो गया है चिकुरः, चिकुरत्व चापल्य जिसका, वह स्थिर-चित्त होकर तेरा ध्यान करता हुआ तेरा मन्त्र जपता है, वह समस्त दिव्यौघ-सिद्धौघ-मानवौघ सदृश चिरजीवी तथा कवि, तत्त्व-ज्ञानी होता है।

दिव्य-भाव को प्राप्त साधक योगी को भौतिक मैथुन की आवश्यकता या इच्छा तक नहीं रह जाती। ब्रह्म-जीवात्मैक्य की अवस्था को शास्त्रों ने चरम आनन्द की अवस्था बतलाया है। वह ऐसा आनन्द है, जिसमें डूबने पर बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है, चेतना नष्ट हो जाती है। भौतिक आनन्दों में विषयानन्द ही ऐसा है, जिसमें कुछ क्षणों के लिए मनुष्य की चेतना बिल्कुल ही नष्ट हो जाती है और वह एकदम अष्ट-पाश-विमुक्त दशा में हो जाता है। इस विषय को विशेष खोलने की आवश्यकता नहीं है। जो महाशय स्त्री-संसर्ग कर चुके हों, कर रहे हों या करनेवाले हों, वे आठो पाशों में से एक-एक की स्त्री-सम्भोग के समय परीक्षा करें। उनको स्पष्ट हो जायगा कि रति-काल में अष्ट-पाश-विमुक्ति होती है या नहीं। इसीलिये महात्माओं ने ब्रह्मानन्द की मैथुनानन्द से तुलना की है।

आगम-सार ने मैथुन की परिभाषा इस प्रकार की है—

रेफस्तु कुंकुमाभास कुण्ड-मध्ये व्यवस्थितः।
मकारश्च विन्दु-रूपः महायोनौ स्थितः प्रिये॥
अकार हंसमारुह्य एकता च यदा भवेत्।
तदा जातो महानन्दो ब्रह्म-ज्ञानं सुदुर्लभम्॥

अर्थात्—कुंकुम के समान रङ्गवाला 'र' कार कुण्ड में स्थित है ('रं' बीज का स्थान वैसे तो मणिपूर-चक्र बतलाया गया है परन्तु उपर्युक्त श्लोकों में कुण्ड का तात्पर्य मूलाधार में चिदग्नि की स्थिति है और अग्नि का बीज 'रं' है। देखिये तत्त्व-शुद्धि के मन्त्र तीसरे अध्याय में—

ततो मूलाधारे अनादि-वासनेन्धन-ज्वलिते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा कुडलिन्यधिष्ठितं चिदग्निं ध्यात्वा इत्यादि—

और 'म' कार सहस्रारस्थ महा-योनि में विन्दु-रूप से स्थित है, जो 'अ' कार-रूपी हंस में आरूढ़ होकर 'र' कार से संयुक्त होता है। इस संयोग से ब्रह्म-ज्ञान-रूप महानन्द प्राप्त होता है। 'र' 'अ' 'म' के संयोग को मैथुन कहते हैं। र—आ—म='राम' अथवा र्—अ—म्='रम्'। राम का अर्थ है—रमन्ते योगिनो अस्मिन् इति 'राम,' जिसमें योगिजन रमण करते हैं, वह राम है। 'रम्'

का अर्थ है रमण करना।

ज्ञानार्णव तन्त्र (३२ पटल) ने इस पञ्चम मकार का दूती-याग के प्रकरण में इस प्रकार अर्थ किया है—

ईश्वर उवाच--

दूत्यन्तरं प्रवक्ष्यामि येन ब्रह्म सनातनम्।
प्रणवाख्यं याग-गेहं प्रविश्य सुर-वन्दिते॥
इच्छा-ज्ञान-क्रिया-द्रव्य-रचितं सुधया युतम्।
अम्बया परमेशानि तत्व-ज्ञान-मये शिवे॥
पर्यंके पुरुषार्थैस्तु पादैश्च परि-मण्डिते।
आत्मान्तरात्म-परम-ज्ञानात्मांग-विभूषिते॥
तत्पदार्थस्त्वं पदार्थोऽसि पदार्थश्च सुन्दरि।
पदार्थ-त्रयमेतत्तु ज्ञान-सूत्र-प्रकाशकम्॥
एतत्सूत्र-मयैः पटैर्गुम्फितेऽम्बर-मण्डिते।
सुमनोवास-सुभगे परां तत्र प्रपूजयेत्॥
जाति-भेदस्तु दूतीनां चतुर्धा वीर-वन्दिते।
हस्तिनी शङ्खिनी चैव चित्रिणी पद्मिनी प्रिये॥
चतुर्विधा हि दूत्यस्तु सुन्दर्यश्चारु-लोचना।
वैखरी हस्तिनी ज्ञेया स्थूला यस्माद्वरानने॥
ययेदं धार्यते सर्वं ब्रह्माण्ड-परि-मण्डलम्।
तेनेयं करिणी प्रोक्ता मध्यमा शङ्खिनी भवेत्॥
शङ्खिनी तु यथा भद्रे विशुद्धा पाप-वर्जिता।
सर्व-देव-प्रिया सा हि शान्ति-सौभाग्य-शोभिता॥
तथा वनस्पति-गता मध्यमा वाग्वरानने।
चित्रिणी वल्लरी देवि महा-दोष-विनाशिनी॥
यस्याः फलं वरारोहे शिव-शक्ति-मयं सदा।
शिव-शक्ति-मयं देव प्राणि-मात्र जगत्त्रयं॥
तेषु सर्वेषु पश्यन्ती जीवेषु परमाश्रया।
पर-ब्रह्मणि संलीना पर-वाक्य-परमेश्वरि॥
तां दूतीं तत्र सम्पूज्य समाधि-कुसुमैः शुचि।
तदंगेषु कलाः पूज्यां क्रमेण सुर-वन्दिते॥
पद्मिनी तु परा ज्ञेया हंस-स्वच्छ-विकासिनी।
हंसोदयेन पद्मं हि त्यक्त्वा संकोचमद्रिजे॥
विकासयति सौभाग्य तथा वस्तु-विलासतः।

परा प्रकाशमायाति पद्मिनी त्वमतो भवेत् ।।
तस्याः देहे वरारोहे कला पूज्यास्तु षोडशः ।
चित्कला-सत्कला ज्ञान-कला संवित्कला तथा ।।
एताः कला वरारोहे तस्या देहे प्रकाशयेत् ।
तत्पदार्थं तु जानीहि मुखमस्या वरानने ।।
त्वं पदार्थोऽसि वाक्यार्थः कुच-युग्मं क्रमेण हि ।
भोगस्तु परमेशानि नादो ब्रह्म-मयो भवेत् ।
नादोदितं वरारोहे विश्वं योनिर्न संशयः ।।
तत्रैव शक्तिं सम्पूज्य स्वात्म-लिङ्गं शिवं यजेत् ।
परस्पर-प्रभावेन ब्रह्मानन्द-रसो भवेत् ।।
तं रसं मनसा देवि वहन्नाड्यागतं प्रिये ।
अर्घ्यामृतेन संयोज्य ततः श्रीचक्रमर्चयेत् ।।

अर्थात्—'अब अन्य प्रकार के दूती-याग (पहले वीर-भाव क्रम के दूती-याग का वर्णन किया गया था) का वर्णन करता हूँ। सनातन ब्रह्म-रूप याग-मन्दिर में, जिसको ॐ कहते हैं, प्रवेश करके साधना करे। वह याग-गृह इच्छा, ज्ञान, क्रिया नामक द्रव्यों से बनी हुई सुधा से युक्त है, तथा तत्त्व-ज्ञान-मयी मङ्गल-दायिनी जगदम्बा से युक्त है। उस याग-मन्दिर में जो पर्यङ्क है, उसके पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पाये हैं। उस पर्यङ्क की चारों बाँहें आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तथा ज्ञानात्मा हैं। तत्, त्वम्, असि इन तीन पदार्थों के बटे हुए सूत से बना हुआ उस पर्यङ्क का वस्त्र (पलंग-पोश) है। यह याग-मन्दिर सुन्दर सुमनों (पुष्पों) की सुगन्ध से युक्त है (यहाँ पर पुष्प के लिए सुमन शब्द का प्रयोग किया गया है—सुमन का अर्थ है सुन्दर मन—तात्पर्य यह है कि यह सारा पूजन मानसिक होने से मानसिक पुष्प ही इस याग में प्रयुक्त होंगे। इसलिए यहाँ पर सुमन शब्द का अर्थ सुन्दर मानसिक वृत्तियों के लिये लिया जायगा। महानिर्वाण तन्त्र का वचन है 'चित्त' प्रकल्पयेत्पुष्प' अर्थात् चित्त को पुष्प मानिये। तारा-रहस्य में कहा है—

दया-ज्ञान-क्षमा-पुष्पं पुष्पमिन्द्रिय-निग्रहं ।
ज्ञान-दान-पुण्य-पुष्पं अहिंसा-पुष्पमुत्तमम् ।।
आनन्द-पुष्पं दातव्यं पुष्पं च साधकार्च्चनम् ।
दश-पुष्पं यः प्रदद्यात् स गच्छेत्तारका-पदम् ।।

अर्थात् दया, ज्ञान, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, दान, पुण्य, अहिंसा, आनन्द, साधकार्चन—इन दश-पुष्पों से जो पूजा करता है, वह श्री तारा-चरणों

को प्राप्त होता है)। ऐसे याग-मन्दिर में परांबा का पूजन करे। उपर्युक्त पूजन में दूती इस प्रकार हैं। यथा–दूती (नायिका) चार प्रकार की होती हैं; चारों ही सुन्दरी तथा उत्तम नेत्रोंवाली हैं––१ हस्तिनी, २ शङ्खिनी, ३ चित्रिणी, ४ पद्मिनी। मनुष्य की चार प्रकार की वाक् (वाणी) ही ये चार प्रकार की नायिकाएँ हैं। यथा–वैखरी-वाक् हस्तिनी, मध्यमा-वाक् शङ्खिनी, पश्यन्ती-वाक् चित्रिणी, तथा परा-वाक् पद्मिनी नायिका (दूती) है। वैखरी-वाक् हस्तिनी इसलिये कहलाती है कि वह स्थूल-रूपा है और अपने स्थूल रूप से सारे ब्रह्माण्ड-मण्डल को धारण करती है। यह वैखरी-वाक् अष्ट-वर्गात्मिका वर्ण-माला (१ स्वर, २ कवर्ग, ३ चवर्ग, ४ टवर्ग, ५ तवर्ग, ६ पवर्ग, ७ अन्तःस्थ तथा ८ ऊष्म) से अष्ट-दिग्गज-सञ्चय जीव-जगत् का सृजन करती है (देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्व-रूपाः पशवो वदंति––देव्यथर्वशीर्ष)। मध्यमा-वाक् को शङ्खिनी इसलिये कहते हैं कि वह शङ्ख के समान निर्मल, विशुद्ध तथा पाप-रहित है, सर्व-देवों की प्रिया शान्ति तथा सौभाग्य से शोभिता वनस्पति-गता है। पश्यन्ती-वाक् चित्रिणी इसलिये कहलाती है कि वह लता के समान है, महा दोषों का नाश करनेवाली, जिसका फल सदा शिव-शक्ति-मय है, परमाश्रया जो समस्त जीव-जगत् को शिव-शक्ति-मय देखती है। परा-वाक् पद्मिनी इसलिये कही गई है कि जिस प्रकार पद्मिनी हंस (सूर्य) के स्वच्छ प्रकाश से विकसित होती है, उसी प्रकार परा-वाक् हंस (पर-ब्रह्म) के प्रकाश से विकसित होती है। अर्थात् परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने से अनाहत नाद उत्पन्न होता है, जो 'हंसः सोहं' कहा जाता है। भाग्य-वशात् साधक को उपर्युक्त चार प्रकार की दूतियों में से जो भी प्राप्त हो, उसे समाधि-पुष्पों से साधक पूजे। उक्त दूती के अङ्गों में चित्कला, सत्कला इत्यादि श्री विद्या मन्त्र की सोलह कलाओं को पूजे। उक्त दूती का ऊर्ध्व शरीर 'तत्वमसि' शब्द से बना है। तत्पदार्थ उसका मुख है, 'त्वं' तथा 'असि' उसके दो स्तन हैं। नाद ही उस दूती की योनि है, जिससे विश्व उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार समाधि-कुसुमों से युक्त दूती का पूजन करके अपने लिंग का पूजन करे (यहाँ पर लिङ्ग से उपस्थेन्द्रिय का तात्पर्य नहीं बल्कि मूलाधारस्थ स्वयम्भू लिंग से तात्पर्य है। यथा––

उत्तिष्ठ द्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोण-शिखा-युतम्।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयंभू-लिङ्ग संज्ञितम्॥
आधार-पद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः।
परिस्फुरद्वादि-सान्त चतुर्वर्णं चतुर्दलम्॥––शिव-संहिता

तब उक्त दूती के साथ रमण करे। इस प्रकार रमण करने से जो ब्रह्मानन्द रस छूटे, उसको मानसिक प्रयत्न से नाड़ियों में चलाता हुआ अपने हृदयार्घ्य के प्रेम, भक्ति अथवा ज्ञान-रूपी अमृत में मिलाकर श्री चक्र का पूजन करे।'

साधक ! उपर्युक्त विवरण को पढ़कर स्पष्ट हो जायगा कि इसमें कथित दूती-याग केवल नादानुसन्धान है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा—ये चार प्रकार की जो वाक् हैं, इन्हीं को नायिका अथवा पूजनार्थ भोग्य शक्ति माना गया है और केवल ध्यान-योग से इनका अनुसरण करते हुए अनाहत नाद 'सोहं हंसः' को प्राप्त करने की विधि बतलाई गई है।

❀ ❀ ❀

इस प्रकार एक दो नहीं हजारों उदाहरण इन पञ्च-मकारों के भिन्न-भिन्न अर्थों के सम्बन्ध में तन्त्र-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। यहाँ पर कुछ दो एक केवल इनके सम्बन्ध में शाक्त-दृष्टिकोण समझाने के लिए उद्धृत किये गये हैं। आम तौर पर हिन्दू-धर्म के जितने भी मत-मतान्तर हैं—उनमें 'ब्रह्म' को निष्क्रिय, निष्कल, निर्गुण इत्यादि माना है परन्तु जब वही ब्रह्म माया-युक्त होता है, तो वह क्रिया-शील, सगुण इत्यादि होकर इस विश्व का उद्भव-स्थिति-संहार करता है, इसमें जीव-रूप से प्रविष्ट होकर इसका भोग करता है।

लेखक की राय में शाक्त-दृष्टिकोण इससे उच्चतर है—क्योंकि जब स्वयं पर-ब्रह्म कुछ भी नहीं है और सारा खेल वह तभी कर सकता है, जब वह माया से युक्त हो, तो स्पष्ट हो गया कि ब्रह्म कुछ नहीं, माया ही सब कुछ है और जैसा माया चलायेगी, वैसा ही ब्रह्म को चलना पड़ेगा। इससे ब्रह्म तो कुछ हुआ ही नहीं, माया ही सब कुछ हो गई और माया-ब्रह्म-वाद प्रसिद्ध हो गया। परन्तु शाक्त-तन्त्र ने ब्रह्म को सशक्त तथा अशक्त दो अवस्थाओं में माना है और माया को सशक्त ब्रह्म की नौकर या सहायक, जो कुछ भी कहो, माना है। इस प्रकार शाक्त-दृष्टिकोण ने, समझ लीजिए, ब्रह्म की इज्जत बचा ली—पिता को माता के मातहत रक्खा, नौकरानी के मातहत नहीं। शक्ति तथा ब्रह्म के इस सम्बन्ध को महा-कवि कालिदास ने रघुवंश महा-काव्य के प्रथम श्लोक में शक्ति तथा ब्रह्म को 'वागर्थाविव-संपृक्तौ' कहकर बतलाया है। अर्थात् शक्ति तथा शिव इस प्रकार संपृक्त हैं जैसे वाणी और उसका अर्थ एक दूसरे से मिले हैं। तात्पर्य यह है कि निरर्थक वाणी केवल ब्रह्म की तरह निरर्थक है अथवा केवल ब्रह्म निरर्थक वाणी की ही तरह निरर्थक बल्कि उसके बराबर भी नहीं क्योंकि निरर्थक वाणी कानों से तो सुनाई देती ही है। इससे स्पष्ट हो गया कि शक्ति ही सब कुछ है।

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

सौन्दर्य-लहरी

और उसी का आराधन आराधन है। चाहे आप किसी नाम से आराधन करें, आराधन महाशक्ति का ही होता है। तैंतिस करोड़ देवता, उप-देवता, भूत, पिशाच, पितर—जिन-जिनको आप पूजते हैं, वे सब शक्ति हैं। अगर आप इनको शक्ति नहीं मानते, तो आपकी पूजा व्यर्थ है। यदि ये शक्ति नहीं हैं, तो देंगे ही क्या क्योंकि शक्ति बिना तो 'न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि' का मामला है। शक्ति बिना जब हिल-डोल भी नहीं सकते, तो देना तो दूर की बात है और आप आराधना कर रहे हैं कि कुछ मिले। यह भिन्न बात है कि राजा सुरथ और समाधि वैश्य की तरह आपकी माँगें अलग-अलग होंगी। किसी की अभ्युदय की होगी; किसी की निःश्रेयस की, परन्तु माँग होगी अवश्य।

उसका आराधन शाक्त-सिद्धांत के अनुसार किस प्रकार हो सकता है, इस बात को लेखक ने अपनी छोटी बुद्धि से समझाने का प्रयत्न किया है। शक्ति की आराधना से अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों सिद्ध होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। कहा है—

यत्राऽस्ति भोगो न च तत्र मोक्षः,
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरी-पूजन-तत्पराणाम्,
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

साधक! आप देखेंगे कि आप साधना करते-करते उस स्थान पर पहुँच गये हैं, जो भाव-लोक है। सन्त चरनदास ने एक पद में इसका बड़ा अच्छा वर्णन किया है—

'गुरु हमरे प्रेम पियायो हो।
ता दिन ते पलटो भयो कुल गोत नसायो हो॥
अमल चढ़ो गगने लगो अनहद मन छायो हो।
तेज-पुञ्ज की सेज पै प्रीतम गल लायो हो॥

त्रेगुन तें ऊपर रहूँ सुखदेव बसायो हो ।
चरनदास दिन-रैन नहिं तुरिया पद पायो हो ।।'

साधक को गुरु महाराज ने बहुत ही तीव्र प्रेम-मदिरा पिला दी है। इस मद्य का उसे बड़े जोर का नशा चढ़ गया है। उस नशे से सब मामला पलट गया है (विपरीत रति, कुण्डल्युत्थान जिस नाम से भी कहो); कुल-गोत्र इत्यादि (अष्ट-पाश) नष्ट हो चुके हैं; मन में अनहद 'सोऽहं' नाद छाया हुआ है। ऐसा नशा है कि मन आकाश (सहस्रार) में लग गया है—यानी कुण्डलिनी जाग्रत् होकर सहस्रार में पहुँच चुकी है और वहाँ तेज-पुञ्ज की शय्या में प्रीतम (पर-शिव के साथ) गल-बाहीं पड़ी हुई है❀। साधक त्रिगुणातीत हो गया है? उसके लिये दिन-रात का भेद नहीं है (दिक्काल-नियमो नास्ति तिथ्यादि-नियमो न च—इति शक्ति-संगमे)। वह तुरीय-पद (मोक्ष) को प्राप्त कर चुका है।

दिव्य-भाव की चरम सीमा पर पहुँचकर साधक के सब भेद-भाव विकल्प आदि नष्ट हो जाते हैं। उसे पूजा-पाठ, जप-तप, ध्यान इत्यादि की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वह स्वयं देव-मय हो जाता है। कबीर का वचन इस अवस्था का वर्णन करता है—

माला जपूँ न कर जपूँ मन में जपूँ न राम ।
राम हमारा हमें जपे हम पाये त्रिसराम ।।
कबिरा मन निर्मल भया जैसे गंगा-नीर ।
हरि पाछे डोलत फिरैं कहत कबीर-कबीर ।।

साधक साध्य से भी आगे बढ़ गया है! कुलार्णव ने ऐसे योगी का लक्षण इस प्रकार दिया है—

❀ सौन्दर्य-लहरी में कहा है—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुत-वहं ।
हृतं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि ।।
मनोऽपि भ्रू मध्ये सकलमपि भित्वा कुल-पथं ।
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ।।

प्रणष्ट-वायु-सञ्चारः पाषाण इव निश्चलः ।
पर-जीवैक-धामज्ञो योगी योगविदुच्यते ॥
स्वप्न-जाग्रदवस्थायां सुप्त-वत् योऽवतिष्ठते ।
निःश्वासोच्छ्वास-हीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥
निष्पन्द-करण-ग्रामः स्वात्म-लीन मनोऽनिलः ।
य आस्ते मृतवत्साक्षात् जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥
न शृणोति न चाघ्राति न स्पृशति न पश्यति ।
न जानाति सुखं दुःखं न सङ्कल्पयते मनः ॥
न चापि किंचिज्जानाति न च बुध्यति काष्ठ-वत् ।
एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते ॥
यथा गाढान्धकारस्थो न किंचिदिह पश्यति ॥
अलक्ष्यञ्च तथा योगी प्रपञ्चं नैव पश्यति ॥
देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥
भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परात्मनि ॥

कुलार्णव, उल्लास ६

अर्थात्—'जिसका वायु-सञ्चार नष्ट हो गया हो (श्वासोच्छ्वास क्रिया पर जिसका पूर्ण अधिकार हो गया हो); पाषाण-वत् जो निश्चल हो (जिसके शरीर पर शीत उष्ण अथवा किसी प्रकार के आघात का कोई असर न पड़ता हो, उससे पीड़ा इत्यादि का अनुभव न होता हो), पर-जीव अर्थात् परमात्मा के निवास का जिसे पूर्ण-ज्ञान हो, वह योगी है; शरीर चाहे जागता हो, चाहे सोता हो, परन्तु दोनों अवस्थाओं में जो सुप्त-वत् ही अवस्थान करता है और निःश्वासोच्छ्वास-हीन है, वह निश्चय ही मुक्त है। जिसका इन्द्रिय-समूह निःस्पन्द हो गया है, जिसने मन तथा वायु को अपने में लीन कर दिया है, जो बिलकुल मुर्दे के समान स्थित है, वह जीवन्मुक्त है। जिसकी सुनने, सूँघने, स्पर्श करने, देखने की क्रिया ही खतम हो चुकी है; जिसको सुख-दुःख में फर्क की समझ

नहीं है, जिसके मन में कोई सङ्कल्प नहीं है; न कुछ जानता है, न समझता है—इस प्रकार जो काष्ठ के समान जड़ हो जाता है और परम-शिव में जिसकी आत्मा विलीन हो जाती है, वह 'समाधिस्थ' कहलाता है । जिस प्रकार गाढ़ान्धकारस्थ व्यक्ति कुछ भी नहीं देखता है, उसी प्रकार योगी के लिये यह प्रपञ्च अलक्ष्य हो जाता है और दृष्टि-गत नहीं होता । फिर तो जब उपर्युक्त प्रकार से देहाभिमान नष्ट हो जाने के कारण परमात्मा का विशेष ज्ञान हो जाता है, तब जहाँ-जहाँ योगी का मन जाता है, वहीं उसको समाधि-अवस्था प्राप्त हो जाती है । उस परमात्मा के दर्शन होने से फिर हृदय की ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है, सर्व-संशय कट जाते हैं, कर्मों का क्षय हो जाता है ।'

और फिर ?

अक्रियैव परा पूजा मौनमेव परो जपः ।
अचिन्तैव परं ध्यानं अनिच्छैव परं फलम् ॥

कुलार्णव ९-३८

अर्थात् अक्रिया—सर्व-कर्मों से निवृत्ति ही सर्वोच्च पूजा है, मौन ही सर्वोत्तम जप है, कुछ भी न चिन्तन करना सर्वोच्च ध्यान है और किसी भी वस्तु की इच्छा न होना परम फल है ।

शक्ति तत्त्व

मूल्य रु० ५-००

शाक्त-सम्प्रदाय की उपास्य देवता 'शक्ति' का तात्विक रहस्य अति गूढ़ रहा है। उसे स्पष्ट करने की चेष्टा समय-समय पर विद्वज्जनों द्वारा की गई है। इस चेष्टा के फलस्वरूप अनेक शिक्षा-प्रद निबन्ध प्रकाश में आए हैं। प्रस्तुत संग्रह में ऐसे ही कुछ चुने हुए निबन्धों का सङ्कलन किया गया है। प्रमुख निबन्ध इस प्रकार हैं—

१–भूमिका : 'कौल-कल्पतरु' पण्डित देवीदत्त शुक्ल, २–माहात्म्य-निदर्शन : न्याय-मूर्ति पण्डित शिवनाथ काटजू, ३–मा : पूज्य-चरण परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १००८ स्वामी शङ्कर तीर्थ महाराज, ४–शक्ति-तत्व : विद्यावारिधि पण्डित शिवनाथ शास्त्री, ५—वेद में शक्ति-तत्व : परम पूज्य 'राष्ट्र-गुरु' श्री १००८ स्वामी जी महाराज, ६—शक्ति-तत्व या ब्रह्म-विद्या : श्री कृष्णनाथ सिंह, एडवोकेट, ७—शक्ति-तत्व (ध्यान-रहस्य) : ब्रह्मलीन श्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती, ८—शक्ति-कथा : पूज्य-चरण परमहंस श्री १००८ स्वामी शङ्कर तीर्थ महाराज। आदि-आदि। विस्तृत जानकारी के लिए उपर्युक्त ग्रन्थ को शीघ्र मँगाइये।

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

कल्याण मन्दिर

अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६